महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी विरचित

शांत-सुधारस

(हिन्दी-विवेचन)

भाग : द्वितीय

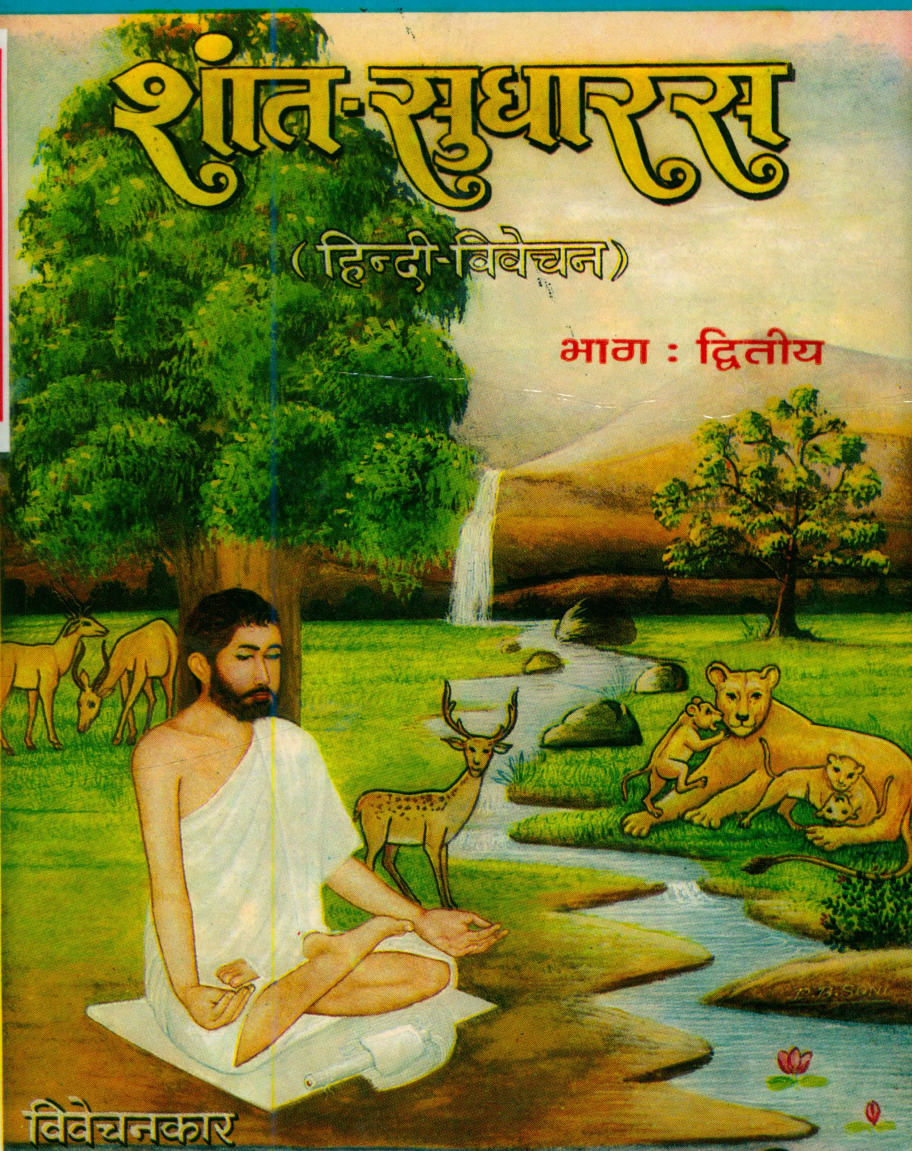

विवेचनकार

मुनि श्री रत्नसेन विजयजी म.

समर्पण

"शांत सुधारस" ग्रंथ के अन्तर्गत वर्णित सोलह भावनाओं को जीवन में आत्मसात् कर अनेक पुण्यवंत आत्माओं को इस भावना-पीयूष का पान कराने वाले स्वनामधन्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि वात्सल्यवारिधि करुणावत्सल पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजय जी गणिवर्यश्री की पुनीत आत्मा को, उन्हीं की कृपा से विवेचित "शांत सुधारस" हिन्दी विवेचन ग्रंथ रत्न समर्पित करते हुए मुझे अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

— मुनि रत्नसेन विजय

महोपाध्याय श्री विनय विजयजी विरचित

शान्त सुधारस

(हिन्दी-विवेचन)

भाग : द्वितीय

卐

विवेचनकार

जिनशासन के महान् ज्योतिर्धर सुविशाल गच्छाधिपति ~~आचार्यदेव~~
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकर विजयजी**
गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी

卐

प्रकाशक

स्वाध्याय संघ

C/o Indian Drawing Equipment Industries
Shed No. 2, Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras 600 098

पुस्तक का नाम	:	शान्त सुधारस–हिन्दी विवेचन, भाग : द्वितीय
आशीर्वाददाता	:	सौजन्यमूर्ति पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा.
विवेचनकार	:	प. पू. मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजयजी म.
प्रस्तावना	:	विद्वद्वर्य पू. आचार्य श्री यशोविजय सूरिजी म.
आवृत्ति	:	प्रथम, नवम्बर १९८९
मूल्य	:	१८.०० रुपये
प्रकाशन-सहयोगी	:	सुकनराजजी पोरवाल C/o श्री एस. एस. जैन पुरुषोत्तम विला, चौथा माला, सातवाँ रास्ता, खार, बम्बई-400052
मुद्रक	:	ताज प्रिण्टर्स, जोधपुर

हमारे लोकप्रिय हिन्दी प्रकाशन

लेखक : अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य

१.	महामंत्र की अनुप्रेक्षा	२०.००
२.	नमस्कार-मीमांसा	८.००
३.	चिन्तन की चिनगारी	४.५०
४.	चिन्तन के फूल	५.००
५.	परमात्मदर्शन	५.००
६.	चिन्तन की चांदनी	६.००
७.	चिन्तन का अमृत	७.००
८.	आपके सवाल हमारे जवाब	७.००
९.	समत्व योग की साधना	१२.००
१०.	परमेष्ठि-नमस्कार	९.००
११.	जैनमार्ग परिचय (द्वि.आ.)	प्रकाश्य
१२.	प्रतिमा-पूजन	प्रेस में

लेखक : पूज्य मुनिराज श्री रत्नसेन विजयजी म.

१.	वात्सल्य के महासागर	४.००
२.	सामायिक सूत्र विवेचना	५.००
३.	चैत्यवंदन सूत्र विवेचना	अप्राप्य
४.	आलोचना सूत्र विवेचना	६.००
५.	वंदित्तु सूत्र विवेचना	५.००
६.	आनन्दघन चौवीसी विवेचना	२०.००
७.	मानवता के दीप जलाएँ	९.००
८.	कर्मन् की गत न्यारी (द्वितीय आवृत्ति)	९.००
९.	मानवता तब महक उठेगी	८.००
१०.	जिंदगी जिंदादिली का नाम है	८.००
११.	चेतन ! मोह नींद अब त्यागो	९.००
१२.	मृत्यु की मंगल यात्रा	९.००
१३.	युवानो ! जागो	६.००
१४.	शान्त सुधारस (हिन्दी विवेचन) प्रथम भाग	२०.००
१५.	शान्त सुधारस (हिन्दी विवेचन) द्वितीय भाग	१८.००
१६.	Light of Humanity	(In Press)
१७.	रिमझिम रिमझिम अमृत बरसे	प्रेस में
१८.	पतन और उत्थान (धारावाहिक कहानी)	प्रकाश्य

ॐ पुस्तक-प्राप्ति-स्थान ॐ

1. Shantilal D. Jain Phone : (1) 654465
C/o Indian Drawing Equipment (2) 653608
Industries; Shed No. 2,
Sidco Industrial Estate
Ambattur—Madras–600 098

२. दुर्लभ डी. जैन Phone : 227851
C/o Indian Drawing Equipment Industries
214, Shri Venkatesware Market
Avenue Road, Banglore–560 002

3. A.V. Shah & Co. (C A) Phone : 344798
408, Arihant, 4th Floor, Ahmedabad street
Iron Market—Bombay -400 009

४. कान्तिलाल मुणत
106, रामगढ़, आयुर्वेदिक हॉस्पिटल के पास,
रतलाम (M.P.) 457 001

5. Motilal Banarsidas
40 U.A. Bungalow Road, Jawaharnagar,
New Delhi–11

६. कनकराज पालरेचा Phone : 129
C/o गंगाराम मुलतानमल
At रानी, Dist. पाली (राज.) Pin–306 115

७. नवरतनमल डोशी
जूनी धानमंडी, महावीर स्वामी मन्दिर के पास, जोधपुर (राज.)

८. छगनराजजी चोपड़ा C/o सोनल फर्नीचर Ph : P P 561067
Shop No 1, सत्य विजय कोग्रॉपरेटिव हाउसिंग सोसायटी
सर्वोदय नगर गेट भांडुप - बम्बई–400 078

९. प्रकाशचंद फतेहचंद जैन C o Valuable Fabrics
116, Darshan Market 1st Floor Phone . 40539
Ring Road—Surat–395 003

१०. कान्तिलाल मानमल राठौड़ 554 B कन्हैया भवन B/6 2nd Floor
चीरा बाजार—बम्बई -400 002

प्रकाशक की कलम से.....

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी द्वारा विरचित और परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के चरम शिष्यरत्न मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजयजी द्वारा विवेचित **'शान्त सुधारस—हिन्दी विवेचन'** द्वितीय भाग का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है।

'शान्त-सुधारस' एक अनमोल ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में महोपाध्याय श्री विनय विजयजी म. ने गेयात्मक काव्य के रूप में अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। प्रथम भाग में अनित्यादि नौ भावनाओं का विस्तृत वर्णन किया गया, इस द्वितीय भाग में धर्म आदि सात भावनाओं का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

शान्त रस को रसाधिराज भी कहा गया है। अत्यन्त मधुर कण्ठ से इन गेय काव्यों को गाया जाय तो सुषुप्त चेतना में स्पन्दन हुए बिना नहीं रहता है। अनेक साधु-साध्वीजी इस ग्रन्थरत्न को कण्ठस्थ कर इसका स्वाध्याय भी करते हैं।

विद्वद्वर्य मुनिश्री रत्नसेन विजयजी म. ने अत्यन्त ही परिश्रम-पूर्वक बड़ी ही सरल व सुबोध भाषा-शैली में इस अद्भुत ग्रन्थ का हिन्दी-विवेचन तैयार किया है, इस हेतु हम आपके अत्यन्त ही आभारी हैं। ग्रन्थ-प्रकाशन में सहयोगी महानुभावों का भी हम आभार मानते हैं।

हमें पूर्ण विश्वास है कि हमारे पूर्व प्रकाशनों की भाँति यह प्रकाशन भी आपको रुचिकर लगेगा।

इस ग्रन्थ के स्वाध्याय द्वारा सभी आत्माएँ मुक्ति-प्रेमी बनकर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ें; यही शुभेच्छा है। □

'कौड़ी को तो बहुत सम्हाला' पर
लाल रतन क्यों छोड़ दिया ?

एक रससिक्त धारा में बहने का आमन्त्रण। आप बहते ही जाओ, बहते ही जाओ और अगले क्षण आप होंगे आनन्द के निरवधि समुद्र में।

सचमुच शान्त सुधारस की एक-एक पंक्ति में आनन्द से भिगो देने की शक्ति है। 'समुंद समाना बूंद में'।

तो आमन्त्रण दिया हुआ है आपको, अब भीतर की महफ़िल में शामिल होना है। बाहर तो क्या है ? जो है सो भीतर ही है।

ज्ञानीपुरुष कभी-कभी करुणा से उद्वेलित होकर कह उठते हैं : इन कंकड़ों और कूड़े को एकत्र कर क्या करोगे ? यह तुमने क्या इकट्ठा कर लिया है ? क्या है तुम्हारे पास ?

महाकवि खालिस ने कहा है : **'कौड़ी को तो बहुत सम्हाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ? नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?'** कौड़ी को तुमने सम्हाल कर, संजोकर जतन से रखा है और हीरे को छोड़ दिया ? परमात्मा को ही भूल गये।

'शान्त सुधारस' की पंक्तियाँ गुनगुनाये जाने पर/दोहराये जाने पर यह अभिवचन कि हीरा तुम्हारे पास ही है, का ज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा।

'भावय रे ! वपुरिदमतिमलिनम्...' जैसी पंक्तियाँ तुम्हें शरीर से बाहर झाँकने पर विवश कर देंगी। शरीर में ही पिरोई हुई चेतना (?) अब (Beyond the body) बीयाण्ड द बॉडी देखेगी। शरीर के उस पार, मन के उस पार....वही तो दर्शनीय है। 'उस' को जिसने देख लिया; संसार में कोई भी पदार्थ उसके लिए दर्शनीय नहीं

रह पाता। **'अध्यात्मबिन्दु'** ग्रन्थ में कहते हैं **हर्षवर्धन उपाध्याय : 'यद्दर्शनाच्च न परं पुनरस्ति दृश्यम्।'** यदि आत्मा को देख लिया, अब देखने लायक दूसरा कुछ है ही नहीं।

लेकिन कैसे करें हम आत्मदर्शन? हम निरे शरीरदर्शी, हम आत्मदर्शी बनें तो कैसे बनें? इसीलिए है शब्द : **'भावय रे....।'** अनुभव कर। आगे चलते ही जाओ। शरीर से आगे, नाम-रूपमय इस संसार के आगे। इसीलिए यह (Pushing) पुशिंग: **'वपुरिदमतिमलिनम्'** देख तो सही, क्या है तेरी इस काया में? पवित्र **आचारांग सूत्र** की एक पंक्ति है : **अतो अंतो पुइ देहंतराणि पासइ।** साधक इस शरीर के भीतर भरी हुई अशुचि को / गन्दगी को देखे।

यह एक प्रकार का (Pushing) पुशिंग हुआ। एक आघात। जिस देह को लाइफबॉय एवं लक्स या लिरिल से घिस-घिस कर नहलाया; आखिर वह है कैसा? भीतर तो वह गन्दगी से भरा हुआ है ही; बाहर भी क्या बिखेरता है वह?

यह आघात अन्त में साधक को आत्मदर्शन तक ले जा सकता है।

Invitation Card (इन्विटेशन कार्ड)—शान्त सुधारस ही तो आपके हाथ में है। जब चाहे तब आप भीतर की आनन्दमयी सृष्टि में जा सकते हैं।

विद्वद्वर्य मुनिश्री रत्नसेन विजयजी ने अपने सरल एवं सरस अनुवाद व विवेचन द्वारा ग्रन्थ के रहस्य को आपकी भाषा में प्रस्तुत किया है। मैं चाहता हूँ कि मुनिश्री ऐसे अनेक ग्रन्थरत्नों का सुबोध अनुवाद कर विशालसंख्यक हिन्दीभाषी तत्त्वज्ञों / तत्त्वार्थियों के लिए जैन शास्त्रागार के द्वार खोलें।

—आचार्य यशोविजय सूरि

जैन उपाश्रय
पाड़ीव-३०७ ००१
जिला-सिरोही (राज.)

विवेचनकार की कलम से....

'कुछ' लिखने के पूर्व मुझे किसी लेखक के 'ये' शब्द यदि आ जाते हैं— 'A wound from the tongue is worse than a wound from a sword, for the latter affects only the body. the former the heart, mind and spirit also.' तलवार के घाव प्रहार से भी वाक्बाण का प्रहार अधिक भयंकर है, क्योंकि तलवार का प्रहार तो शरीर पर ही घाव करता है और बाह्य-उपचार के द्वारा उस घाव को ठीक भी किया जा सकता है, परन्तु वाक्-बाण का घाव तो अत्यन्त ही भयंकर होता है, जो हृदय और दिमाग को ही भेद डालता है, उस घाव को मिटाना अशक्य हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—"बोलने के पूर्व सौ बार सोचें। क्योंकि वाणी के कमान से छूटे हुए शब्द-बाण को वापस ग्रहण नहीं किया जा सकता।" 'अन्धे के बेटे अन्धे ही होते हैं'–द्रौपदी के इन शब्दों ने तो एक महाभारत खड़ा कर दिया।

—असावधानी में बोले गए शब्द विष का काम करते हैं तो सोच-विचारपूर्वक बोले गए शब्द अमृत का भी काम कर सकते हैं।

—संगीत के सुरीले स्वर जागृत व्यक्ति को सुला भी सकते हैं और सोए हुए व्यक्ति को जगा भी सकते हैं।

आध्यात्मिक-साधना के बल से महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी म. के शब्दों में वह प्रचण्ड शक्ति पैदा हुई है, जिसके फलस्वरूप एक सुषुप्त चेतना जागृत हुए बिना नहीं रहती।

'शान्त-सुधारस' की यह अद्भुत-रचना! इसमें शब्दों का लालित्य है तो साथ में भावों की ऊर्मियाँ भी उछलती हुई नजर आती हैं।

महोपाध्याय श्री विनय विजयजी म. की प्रस्तुत कृति 'शान्त सुधारस' अत्यन्त ही भाववाही कृति है। इसमें अनित्य आदि भावनाओं का बहुत ही सुन्दर व मर्मस्पर्शी वर्णन है। अत्यन्त लय के साथ यदि गाया जाय तो परम आनन्द की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। 'शान्त सुधारस' के ये शब्द सुषुप्त चेतना को जागृत करने में पूर्णतया सशक्त हैं।

परम पूज्य जिनशासन के अजोड़ प्रभावक सुविशाल गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्र सूरीश्वरजी म. सा. की असीम कृपादृष्टि, परम पूज्य अध्यात्मयोगी निःस्पृहशिरोमणि परमोपकारी गुरुदेव पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री की सतत कृपावृष्टि व प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतन सूरीश्वरजी म. सा. के शुभाशीर्वाद से मैंने इस ग्रन्थ के हिन्दी विवेचन का प्रयास प्रारम्भ किया। उपर्युक्त पूज्यों की असीम कृपा तथा प. पू. सहृदय पंन्यासप्रवर श्री वज्रसेन विजयजी म. सा के मार्गदर्शन और प. पू. परम तपस्वी सेवाभावी मुनि श्री जिनसेन विजयजी म. सा. की सहयोगवृत्ति से इस ग्रन्थ-विवेचन का अल्प प्रयास करने में सक्षम बन सका हूँ।

वि. सं. २०३९ के पाली चातुर्मास की अवधि में इस ग्रन्थ पर विवेचन लिखना आरम्भ किया था। इस विवेचन की पूर्णाहुति तो दूसरे ही वर्ष हो चुकी थी परन्तु इसके प्रकाशन में संयोगवश विलम्ब हो गया। आज पुनः वि. सं २०४५ में प. पू. सौजन्यमूर्ति आचार्य श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म सा. आदि के पाली चातुर्मास दरम्यान ही इस विवेचन ग्रन्थ-रत्न का प्रकाशन होने जा रहा है, यह अत्यन्त ही खुशी की बात है। सोने में सुगन्ध रूप इस चातुर्मास में प्रवचन भी इसी 'शान्त-सुधारस' ग्रंथ के आधार पर हो रहे हैं।

प. पू. विद्वद्वर्य आचार्यप्रवर श्री यशोविजय सूरिजी म. ने विवेचन

को आद्यन्त देखकर परिमार्जित किया है और इस ग्रन्थ विवेचन के अनुरूप संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित प्रस्तावना भी लिखी है, उनका मैं अत्यन्त आभारी हूँ। इस विवेचन को पढ़कर सभी भव्यात्माएँ मुक्ति-मार्ग में आगे बढ़ें, यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है।

अन्त में, मतिमन्दतादि दोषों के कारण यदि कहीं जिनाज्ञाविरुद्ध आलेखन हुआ हो तो उसके लिए त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम्।

जैन उपाश्रय,
गुजराती कटला
पाली (राज.)

—अध्यात्मयोगी पूज्य पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री
का चरम शिष्याणु
मुनि रत्नसेन विजय

शान्त सुधारस

भाग : द्वितीय

अनुक्रम

१	धर्म भावना	१	—	३४
२	लोकस्वरूपभावना	३५	—	७१
३	बोधिदुर्लभ भावना	७२	—	१०४
४	मैत्री भावना	१०५	—	१४७
५	प्रमोद भावना	१४८	—	१८२
६	करुणा भावना	१८४	—	२१५
७	माध्यस्थ्य भावना	२१६	—	२४१
●	प्रशस्ति	२४२	—	२४४
●	प्रकाशन परिचय	२४५	—	२५२

10

धर्म भावना

दानं च शीलं च तपश्च भावो,
धर्मश्चतुर्धा जिनबान्धवेन ।
निरूपितो यो जगतां हिताय,
स मानसे मे रमतामजस्रम् ।।१२५।।
(उपजाति)

अर्थ—जिनेश्वर बन्धुओं ने जगत् के हित के लिए दान, शील, तप और भाव स्वरूप चार प्रकार का धर्म बतलाया है, वह (धर्म) मेरे मन में सदा रमण करे ।। १२५ ।।

विवेचन

धर्म के चार प्रकार

लोक-व्यवहार में चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये गए हैं—अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। अर्थ और काम अनर्थ के मूल होने से वास्तव में पुरुषार्थ ही नहीं हैं। मुमुक्षु आत्मा के लिए तो दो ही पुरुषार्थ हैं—धर्म और मोक्ष। मोक्ष साध्य है और धर्म उसका साधन।

दुनिया में धर्म-धर्म की बातें करने वाले तो बहुत होते हैं, परन्तु धर्म के वास्तविक स्वरूप और रहस्य को समझने वाले कोई विरले ही पुरुष होते हैं। वास्तव में, धर्म वही है जो मोक्ष का साधन बने।

धर्म की व्याख्या करते हुए **कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य जी** ने कहा है कि "दुर्गति में पड़ते हुए प्राणी को जो धारण करे, वह धर्म कहलाता है।" इस प्रकार का मोक्षसाधक धर्म जिनेश्वर भगवन्तों ने बतलाया है। इस धर्म के चार प्रकार हैं— दान, शील, तप और भाव।

(१) **दान धर्म**—अपने पास जो तन, मन और धन की शक्ति है, उसका दूसरे के हित के लिए उपयोग करना, दान कहलाता है। दान यह धर्म का आदि पद कहा गया है। दान से ही जीवन में धर्म का प्रवेश होता है। अनादिकाल से जीवात्मा को धन के प्रति गाढ़ मूर्च्छा रही हुई है। उस मूर्च्छा को दूर करने के लिए, परिग्रह संज्ञा के निर्मूल नाश के लिए जिनेश्वर भगवन्तों ने दान धर्म बतलाया है। इस अवसर्पिणी काल में सर्वप्रथम श्रेयांसकुमार ने ऋषभदेव परमात्मा को वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन इक्षुरस बहोराकर दानधर्म का श्रीगणेश किया था। परहित की भावना से ही व्यक्ति अपनी शक्ति का उपयोग दूसरे के हित के लिए कर सकता है।

अनादिकाल से जीवात्मा में स्वार्थवृत्ति घर कर गई है और इस स्वार्थवृत्ति के कारण जहाँ-तहाँ वह अपने ही लाभ आदि की बात करता है।

दान धर्म हमें अन्य जीवात्मा का मूल्यांकन करना सिखाता

है। दान वही दे सकता है, जिसने अन्य आत्मा का कुछ मूल्यांकन किया है। अन्य जीवों के प्रति आत्मसमदर्शित्व के बिना दान की भावना असम्भव है।

दान के अनेक प्रकार हैं—

(१) ज्ञानदान (२) अभयदान (३) सुपात्रदान (४) अनुकम्पादान (५) कीर्तिदान, इत्यादि।

दूसरे जीव को सन्मार्ग में जोड़ना अथवा सन्मार्गगामी जीव को सन्मार्ग में स्थिर करना अथवा उसे सन्मार्ग में स्थिर रहने के लिए सहाय करना यह सबसे बड़ा दान है। तीर्थंकर परमात्मा के हृदय में सर्व जीवों के प्रति अपार करुणा होती है और इसी कारण वे उन्मार्गगामी भव्य जीवों को सन्मार्ग पर लाने के लिए धर्मदेशना का दान करते हैं। अपनी शक्ति का परहित में सदुपयोग करने से, उस शक्ति का व्यय नहीं होता है। बल्कि उस शक्ति का गुणाकार हो जाता है।

(२) शील—शील अर्थात् सदाचार—ब्रह्मचर्य। शील धर्म के पालन के द्वारा इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त किया जाता है। शील धर्म के पालन से मैथुन संज्ञा पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। निर्मल शील का पालन करने से देवता भी वशीभूत हो जाते हैं। शीलवान् पुरुष के आगे पराक्रमी दुष्ट देवों की शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। सुदर्शन श्रेष्ठी के निर्मल शील से कौन अपरिचित है! उसके निर्मल शील के प्रभाव से सूली का सिंहासन बन गया और अर्जुनमाली जैसा पराक्रमी भी स्थिर बन गया।

प्रातःकाल में निर्मल शीलवती सतियों का नाम-स्मरण भी

मंगल रूप है। भयंकर से भयंकर संकटकाल में भी अपने शील का रक्षण करने वाली सीता, अञ्जना, सुरसुन्दरी, कलावती, सुभद्रा तथा मदनरेखा आदि सतियों के जीवन-चरित्र से हमें बहुत ही प्रेरणा मिलती है। सीता के शील के प्रभाव से ही अग्नि भी जल में बदल गई थी। जिनेश्वर भगवन्तों ने पाँच इन्द्रियों की वासनाओं पर विजय पाने के लिए शील धर्म का उपदेश दिया है।

(३) तप—एक ओर हजारों क्विन्टल लकड़ी का ढेर हो और दूसरी ओर जलती हुई एक ही दियासलाई। दोनों में किसका बल अधिक होगा? स्पष्ट ही है एक जलती हुई दियासलाई हजारों क्विन्टल लकड़ी के ढेर को भी भस्मसात् कर सकती है। बस; अनादिकाल से संचित कर्म लकड़ी के ढेर तुल्य हैं और तप जलती हुई दियासलाई तुल्य है। अनादि से संचित कर्मों को नष्ट करने में तप धर्म पूर्णतया समर्थ है किन्तु हाँ, वह तप जिनेश्वर की आज्ञा के अनुरूप होना चाहिये। जिनाज्ञा-युक्त अल्प तप भी अधिक फलदायी है और जिनाज्ञा रहित दीर्घ तप भी निष्फल है।

तप से अनादिकालीन आहार संज्ञा को जीता जा सकता है। अणाहारी पद की प्राप्ति के अभ्यास रूप तप धर्म का अवश्य आचरण करना चाहिये। यह तप बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का और अनशनादि के भेद से बारह प्रकार का बतलाया गया है, जिसका विस्तृत वर्णन निर्जरा भावना के अन्तर्गत किया गया है। तप आत्मा के लिए महामंगलभूत है। तप से आत्मा स्वयं मंगलमय बन जाती है, जिससे बाह्य-अभ्यन्तर सभी विघ्न पलायन कर जाते हैं।

(४) **भाव**—चारों प्रकार के धर्मों में एक अपेक्षा से भाव धर्म की ही प्रधानता है। भाव धर्म से सापेक्ष दान ही-दानधर्म मुक्तिसाधक बन सकता है। भाव से रहित दान, दान नहीं है। भाव से रहित शील, शील नहीं है और भाव से रहित तप, तप नहीं बल्कि कायकष्ट मात्र है।

भाव धर्म अर्थात् आत्मा के शुद्ध परिणाम।

आत्मा अपने अध्यवसाय (भाव) के अनुसार ही कर्म से बँधती है और मुक्त बनती है।

शुभ क्रिया करते हुए भी यदि भाव अशुभ हैं तो वह क्रिया मोक्षसाधक बनने के बजाय संसारवर्धक ही बनती है और अशुभ क्रिया करते हुए भी यदि आत्मा के अध्यवसाय शुभ और निर्मल हैं, तो आत्मा कर्म का अल्पबंध और अधिक निर्जरा ही करती है।

इस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकार के धर्म त्रिलोकबन्धु जिनेश्वरदेव ने बतलाए हैं। तीर्थंकर भगवान समवसरण में बैठकर धर्मदेशना देते हैं उस समय भगवान का मुख तो पूर्व दिशा की ओर होता है, अन्य तीन दिशाओं में देवता प्रभु की प्रतिकृति स्थापित करते हैं। **कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्र सूरिजी म.** प्रभु की स्तुति करते हुए फरमाते हैं कि—

दान-शील-तपो-भाव-भेदाद् धर्मं चतुर्विधम्।
मन्ये युगपदाख्यातुं चतुर्वक्त्रोऽभवद् भवान्॥

हे प्रभो! दान, शील, तप और भाव रूप चार प्रकार के धर्मों को एक साथ कहने के लिए ही आपके चार मुख हो गये हैं, ऐसा मैं मानता हूँ। □

सत्य-क्षमा-मार्दव-शौच-सङ्ग-
त्यागाऽऽर्जव-ब्रह्म-विमुक्तियुक्तः ।
यः संयमः किं च तपोऽवगूढ-
श्चारित्रधर्मो दशधाऽयमुक्तः ।।१२६।।
(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—सत्य, क्षमा, मार्दव, शौच, संगत्याग (अपरिग्रह), आर्जव, ब्रह्मचर्य, विमुक्ति (लोभत्याग), संयम और तप रूप दस प्रकार का चारित्र-धर्म कहा गया है ।।२२६।।

विवेचन

दस प्रकार का चारित्रधर्म

जैन दर्शन स्याद्वाद दर्शन है, अतः इस दर्शन में एक ही वस्तु का निरूपण भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है।

पहली गाथा में ग्रन्थकार पूज्य उपाध्याय श्री विनयविजयजी म. ने धर्म के चार प्रकार बतलाए। अब दूसरी गाथा में वे चारित्रधर्म-यतिधर्म के दस प्रकार बतलाते हैं।

अन्य अपेक्षा से धर्म के दो भेद हैं—(१) श्रुतधर्म और (२) चारित्रधर्म। इस प्रकार चारित्रधर्म के दस प्रकार बतलाए गए हैं; जिन्हें यतिधर्म-साधुधर्म या श्रमणधर्म भी कहते हैं।

(१) **सत्य**—सत्य अर्थात् कभी भी मिथ्या-भाषण नहीं करना। दीक्षा अंगीकार करते समय सर्वथा मृषावाद विरमण की

प्रतिज्ञा की जाती है, अतः इस प्रतिज्ञा के पालन के लिए साधु किसी भी प्रकार से झूठ नहीं बोलते हैं।

(२) **क्षमा**—क्षमा अर्थात् क्रोध के प्रसंग में भी क्रोध नहीं करना। क्रोध के प्रसंग को निष्फल बना देना। क्रोध अग्नि तुल्य है और क्षमा उस अग्नि को शान्त करने वाला जल है। आग और जल के युद्ध में जल की ही विजय होती है। क्रोध और क्षमा के युद्ध में क्षमा ही विजय की वरमाला धारण करती है। कमठ दस-दस भवों तक क्रोध की ज्वालाएँ भड़काता रहा, किन्तु पार्श्वनाथ प्रभु ने क्षमा के जल से सभी ज्वालाओं को शान्त कर दिया।

अग्निशर्मा ने नौ-नौ भवों तक वैर की आग बरसाई किन्तु गुणसेन ने क्षमा के जल से उस आग को सदा के लिए बुझा दिया।

(३) **मार्दव**—मार्दव अर्थात् मृदुता। किसी भी प्रकार का अभिमान नहीं करना अर्थात् सदा नम्र बनकर रहना। जाति, कुल, रूप आदि का अभिमान करने से भयंकर कर्मों का बंध होता है। भविष्य में उन वस्तुओं की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है। अभिमान करने से नवीन कर्मों का भी बंध होता है।

विनय-नम्रता तो सर्व गुणों का मूल है। विनय से विद्या-ज्ञान, ज्ञान से विरति, विरति से आस्रव-निरोध अर्थात् संवर का फल तप तथा तप का फल निर्जरा और निर्जरा का फल कर्म-मुक्ति अर्थात् मोक्षपद की प्राप्ति है।

(४) **शौच**—शौच अर्थात् अभ्यन्तर शुद्धि। परिणामों की निर्मलता। जैन शासन में बाह्य शौच गौण है, अभ्यन्तर शौच

की ही मुख्यता है। मन की पवित्रता-शुद्धि से अध्यवसाय निर्मल बनते हैं, जिससे अशुभ कर्मों के आस्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं और संवर-निर्जरा धर्म की आराधना होती है।

(५) **संगत्याग**—संगत्याग अर्थात् बाह्य परिग्रह का त्याग। परिग्रह के त्याग से आकिंचन्य धर्म की साधना होती है। संगत्याग अर्थात् पौद्गलिक पदार्थों के प्रति रही हुई ममता और आसक्ति का त्याग।

(६) **आर्जव**—आर्जव अर्थात् सरलता। माया और वक्रता का अभाव। आत्मा के लिए माया महा अनर्थकारी है। पूर्व भव में मायाचार के कारण ही मल्लिनाथ भगवान को भी स्त्री के रूप में जन्म लेना पड़ा था।

(७) **ब्रह्मचर्य**—ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मा के स्वरूप में रमण करना। ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप में लीन बनने वाला ही सच्चा ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ इन्द्रिय-संयम, गुरुकुलवास आदि भी है।

(८) **विमुक्ति**—विमुक्ति अर्थात् लोभ का त्याग। लोभ तो सभी पापों का बाप है। जैसे आकाश का कोई अन्त नहीं है, वैसे ही लोभी की इच्छा का भी कोई अन्त नहीं है। विमुक्ति अर्थात् सन्तोष धारण करना।

(९) **संयम**—संयम अर्थात् मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना। काया से जीवहिंसादि नहीं करना, वचन से मिथ्या, कटु व अहितकर वचन नहीं बोलना और मन से किसी का भी अहित-चिन्तन नहीं करना।

(१०) तप—तप अर्थात् आत्मा पर लगे हुए कर्मों को तपाने की एक यौगिक प्रक्रिया। तप से कर्म क्षीण होते हैं।

उपर्युक्त दस प्रकार के यतिधर्म के पालन से आत्मा कर्म के बन्धनों से मुक्त बनकर शाश्वत अजरामर पद को प्राप्त करती है। □

यस्य प्रभावादिह पुष्पदन्तौ,
विश्वोपकाराय सदोदयेते।
ग्रीष्मोष्मभीष्मामुदितस्तडित्वान्,
काले समाश्वासयति क्षितिं च ।।१२७।।
(इन्द्रवज्रा)

उल्लोलकल्लोलकलाविलासै-
र्न प्लावयत्यम्बुनिधिः क्षितिं यत्।
न घ्नन्ति यद्व्याघ्रमरुद्वाद्याः
धर्मस्य सर्वोऽप्यनुभाव एषः ।।१२८।।
(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—इसके (धर्म के) प्रभाव से ही सूर्य और चन्द्रमा विश्व के उपकार के लिए सदा उदित होते हैं और ग्रीष्म के भयंकर ताप से संतप्त बनी पृथ्वी को समय पर मेघ शान्त करता है ।। १२७ ।।

अर्थ—उछलती हुई जल-तरंगों से समुद्र पृथ्वीतल को डुबा नहीं देता है तथा व्याघ्र, सिंह, तूफान और दावानल (सर्व प्राणियों का) संहार नहीं करते हैं; यह धर्म का ही प्रभाव है ।। १२८ ।।

विवेचन

धर्म का अचिन्त्य प्रभाव

जिनेश्वरदेव के द्वारा बतलाए हुए धर्म का फल अचिन्त्य

है। धर्म के समस्त फल का वर्णन करने में कोई समर्थ नहीं है। चौदह राजलोक में धर्म का प्रभाव प्रत्यक्ष है।

धर्म के पुण्य प्रभाव से ही सूर्य प्रतिदिन उगता है और जगत् के जीवों को प्रकाश प्रदान करता है। धर्म का ही प्रभाव है कि रात्रि में चन्द्रमा अन्धकार को दूर करता है। सूर्य और चन्द्र नियमित रूप से जगत् के जीवों को सतत प्रकाश देने का जो कार्य कर रहे हैं, यह साक्षात् धर्म का ही प्रभाव है।

वैशाख और ज्येष्ठ मास में भयंकर गर्मी पड़ती है, उस गर्मी से सभी जीव अत्यन्त सन्तप्त हो जाते हैं। उस गर्मी की भयंकर पीड़ा को दूर करने के लिए मेघराजा जोर से वर्षा करता है; उस वर्षा से अत्यन्त सन्तप्त पृथ्वी भी शान्त हो जाती है और खुशहाली में हरियाली की हरी चादर ओढ़ लेती है। यह सब धर्म का ही साक्षात् प्रभाव है।

इतना ही नहीं लवणसमुद्र आदि अपनी मर्यादा को त्याग-कर जम्बुद्वीप में भयंकर हानि आदि कभी नहीं करते हैं, यह भी धर्म का ही पुण्य प्रभाव है।

व्याघ्र आदि जंगल में रहते हैं, नगर में आकर हिंसादि नहीं करते हैं, पवन अनुकूल बहता है और आग महा अनर्थ नहीं करती है, यह सब धर्म का ही प्रभाव है।

धर्म के प्रभाव की क्या बात करें? दुनिया में जो कुछ भी शुभ है, सुख और शान्ति है, वह सब धर्म का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है।

चौदह राजलोक अपनी स्थिति में सदा रहा हुआ है, मेरुपर्वत

आदि अनादिकाल से अवस्थित हैं। स्वयम्भूरमण आदि अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं, यह सब धर्म का ही साक्षात् प्रभाव है।

हेमचन्द्राचार्यजी ने भी 'योगशास्त्र' में कहा है—

(१) धर्म के प्रभाव से ही कल्पवृक्ष आदि अभीष्ट फल देते हैं।

(२) समुद्र पृथ्वीतल को डुबो नहीं देता है और बादल पृथ्वी को सदा आश्वासन देते हैं; यह सब धर्म का ही प्रत्यक्ष प्रभाव है।

आग तिरछी नहीं जलती है और पवन ऊर्ध्वगति नहीं करता है, यह सब धर्म का ही फल है।

यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन से रहकर जगत् के जीवों के लिए आधार रूप बनी हुई है। यह धर्म का ही प्रभाव है।

विश्व के उपकार के लिए सूर्य-चन्द्र उदय पाते हैं, यह धर्म का ही प्रभाव है।

अहो! धर्म की महिमा का क्या गान करें? वह तो बन्धुरहित के लिए बन्धु समान है, मित्ररहित के लिए मित्र समान है, अनाथ के लिए नाथ समान है। □

यस्मिन्नैव पिता हिताय यतते, भ्राता च माता सुतः,
सैन्यं दैन्यमुपैति चापचपलं, यत्राऽफलं दोर्बलम्।
तस्मिन् कष्टदशाविपाकसमये, धर्मस्तु संवर्मितः,
सज्जः सज्जन एष सर्वजगतस्त्राणाय बद्धोद्यमः ॥१२९॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—जिस दशा में पिता, माता, भाई और पुत्र भी हित के लिए प्रवृत्ति नहीं करते (बल्कि अहित के लिए ही प्रवृत्ति करते हैं), सैन्य भी दुर्बल हो जाय और धनुष-बाण को धारण करने में भुजाएँ भी असमर्थ हो जायें, ऐसी कष्टदशा के विपाक समय में, अच्छी तरह से बद्ध कवच वाला सज्जन रूप धर्म ही सर्व जगत् के रक्षण के लिए उद्यमशील होता है ।। १२६ ।।

विवेचन

आपत्ति में धर्म ही सहायक है

कर्म की गति न्यारी है । जब अशुभ कर्म का उदय आता है, तब व्यक्ति आपत्ति के बादलों से घिर जाता है । जन्म देने वाले माता-पिता भी उसके विरुद्ध हो जाते हैं । भाई तो उसका मुँह भी देखना नहीं चाहता है और मित्रमण्डल आदि तो दृष्टि से भी अगोचर हो जाते हैं ।

अनेक महासतियों के जीवन-चरित्रों के निरीक्षण से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है ।

सती अंजना एक महान् पतिव्रता और श्रेष्ठ नारी थी, परन्तु जब उसके दुर्भाग्य का उदय हुआ, तब उसकी सास ने उस पर कलंक लगा दिया । इतना ही नहीं, घोर अपमान के साथ तिरस्कारपूर्वक उसे घर से निकाल दिया । विकट परिस्थिति में फँसी हुई सती अंजना जब अपने पिता के घर में प्रवेश करने जाती है तब उसकी सगी माँ भी उसका घोर अपमान कर उसे बाहर निकाल देती है । पूर्व जन्म के पापोदय के कारण सती अंजना को न पति का आश्रय मिला····न सास का····न ससुर का····न माता

का और न पिता का। सगा भाई भी दूर हो जाता है। अन्त में, उस अंजना को भयंकर वन-निकुञ्ज की शरण लेनी पड़ती है। एकमात्र वसन्ततिलका दासी उसके साथ है। वन की भयंकर गुफा में वह आश्रय करती है और जिनधर्म से भावित होने के कारण परमात्मा का सतत स्मरण करती है। भयंकर दुःख में भी हिम्मत न हारकर नमस्कार महामन्त्र आदि का स्मरण करती है और उसी धर्म के प्रभाव से वह संरक्षण पाती है।

• अनाथीमुनि की पूर्वावस्था भी कुछ ऐसी ही है। धन, कुटुम्ब और परिवार से समृद्ध होते हुए भी भयंकर शूल का निवारण नहीं हो पा रहा है। विशाल परिवार भी वेदना में सहभागी नहीं है। आखिर अनाथीमुनि की आत्मा में से एक आवाज निकलती है—'ओह! वास्तव में, इस भयंकर संसार में मैं अनाथ हूँ।' इसीलिए तो वे श्रेणिक महाराजा को समझाते हुए कहते हैं—

जिन धर्म विना नर नाथ,
नथी कोई मुक्ति नो साथ।

इस विषम संसार में जीवात्मा का सच्चा साथी जिनेश्वर का धर्म ही है।

दुनिया की सभी शक्तियाँ जब विपरीत हो जाती हैं, एक भी व्यक्ति अपनी ओर देखने के लिए भी तैयार नहीं होता है, ऐसी परिस्थिति में एकमात्र परमात्मा का बताया हुआ धर्म ही हमारा रक्षण कर सकता है।

सैन्य कमजोर हो जाय, भुजा-बल घट जाय, तब एकमात्र धर्म ही सन्नद्ध कवच वाला बनकर हमारी रक्षा करता है। □

त्रैलोक्यं सचराचरं विजयते यस्य प्रसादादिदं ,
योऽत्राऽमुत्र हितावहस्तनुभृतां सर्वार्थसिद्धिप्रदः ।
येनानर्थकदर्थना निजमहः सामर्थ्यतो व्यर्थिता ,
तस्मै कारुणिकाय धर्मविभवे भक्तिप्रणामोऽस्तु मे ।।१३०।।
(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—जिसको कृपा से सचराचर रूप तीन जगत् (सदा) जयवन्त रहता है, जो प्राणियों के लिए इस लोक और परलोक की समृद्धि को लाने वाला है और जो धर्म अपने प्रभाव से अनेक अनर्थों की परम्पराओं को निष्फल बनाने वाला है, महाकरुणामय उस धर्मविभव को भक्तिपूर्वक मेरा प्रणाम हो ।। १३० ।।

विवेचन

धर्म का पुण्य प्रभाव

धर्म के प्रभाव से तीन लोक में रहे हुए सभी प्राणी सुख प्राप्त करते हैं। धर्म ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है, यावत् मोक्ष-सुख प्रदान करने का सामर्थ्य धर्म में रहा हुआ है।

धर्म से धन मिलता है, धर्म से काम मिलता है, धर्म में दुनिया की समृद्धि देने की ताकत रही हुई है। परन्तु मुमुक्षु आत्मा का कर्त्तव्य है कि वह धर्म के फलस्वरूप सांसारिक भौतिक-सुखों की झंखना न करे। धर्म के फलस्वरूप इस लोक के सुख की इच्छा करने से वह धर्मानुष्ठान भी विषानुष्ठान बन जाता है। धर्म के प्रभाव से पारलौकिक सुखों की झंखना करने से वह धर्मानुष्ठान-गरानुष्ठान बन जाता है, जो धीरे-धीरे आत्मा के गुणों का घात करता है।

धर्म का वास्तविक फल तो शाश्वत अजरामर पद की प्राप्ति रूप मोक्ष पद ही है। दुनिया के सुखों की प्राप्ति यह तो धर्म का आनुषंगिक फल है। गेहूँ बोएंगे तो घास तो उगने वाला ही है। गेहूँ बोने का मुख्य उद्देश्य गेहूँ की प्राप्ति है, न कि घास की प्राप्ति। घास पाने के लिए गेहूँ बोने वाला मूर्ख ही गिना जाता है। इसी प्रकार धर्म का वास्तविक फल मोक्ष-सुख की प्राप्ति है, अतः मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से ही धर्म का आचरण और प्रतिपादन होना चाहिये, न कि संसार-सुखों की प्राप्ति के लिए।

जल का यह स्वभाव है कि वह ताप को दूर करता है और शीतलता प्रगट करता है। बस, इसी प्रकार धर्म का यह स्वभाव है कि वह अनर्थ की परम्पराओं को दूर करता है और हित की परम्परा का सर्जन करता है।

शालिभद्र की आत्मा ने पूर्व भव में शुभ भावपूर्वक एक छोटा सा दान किया, उस दान ने उन्हें भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुँचा दिया और अन्त में उन्हें मोक्षपद भी दे दिया।

धर्म तो करुणामूर्ति है। वह जीव को शिव और आत्मा को परमात्मा बनाना चाहता है। ऐसे महान् धर्म को भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम हो! भक्तिभावपूर्वक धर्म को किया गया प्रणाम भी जीवात्मा के उद्धार में सहायक बनता है। □

प्राज्यं राज्यं सुभगदयिता नन्दना नन्दनानां,
रम्यं रूपं सरसकविता-चातुरी सुस्वरत्वम्।
नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः
किं नु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥१३१॥
(मन्दाक्रान्ता)

अर्थ—धर्म कल्पवृक्ष की फलपरिणति का हम क्या वर्णन करें? उसके प्रभाव से विशाल राज्य, सौभाग्यवती पत्नी, पुत्र-पौत्रादि, लोकप्रिय रूप, सुन्दर काव्य-रचना का चातुर्य, असाधारण सुन्दर वक्तृत्व, नीरोगता, गुण की पहचान, सज्जनत्व तथा सुन्दर बुद्धि आदि की प्राप्ति होती है ।। १३१ ।।

विवेचन

धर्म कल्पवृक्ष के फल

धर्म के माहात्म्य का वर्णन करते हुए पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि धर्म तो कल्पवृक्ष के समान है। जैसे—कल्पवृक्ष से मुँहमाँगी वस्तुओं की प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार धर्म में भी समस्त वस्तुओं को प्रदान करने की ताकत रही हुई है।

धर्म के प्रभाव से विशाल साम्राज्य की प्राप्ति होती है। चक्रवर्ती और देव-देवेन्द्र की समृद्धि भी धर्म के प्रभाव से सुलभ हो जाती है।

हाँ, इतना ख्याल रखें कि धर्म में चक्रवर्ती पद देने की ताकत है, किन्तु उसके फलरूप चक्रवर्ती पद की इच्छा महाअनर्थकारी है।

सम्भूतिमुनि घोर तप साधना करते थे। एक बार सनत्कुमार चक्रवर्ती अपने परिवार के साथ उन्हें वन्दन के लिए आये। अनजाने में मुनि को स्त्री-रत्न की केशलताओं का स्पर्श हो गया और एक गजब आश्चर्य बन गया। स्त्रीरत्न की केशलताओं के स्पर्श ने तपस्वी मुनि के देह में कामाग्नि प्रगट कर दी और वे निदान कर बैठे "इस तप का कोई फल हो तो आगामी भव में मैं चक्रवर्ती बनूँ और स्त्रीरत्न का भोक्ता बनूँ।"

बस, इस निदान के फलस्वरूप सम्भूतिमुनि को आगामी भव में चक्रवर्ती पद तो मिल गया; किन्तु वे अजरामर पद को खो बैठे।

धर्म के प्रभाव से सौभाग्यवती स्त्री, पुत्र-पौत्र आदि तथा अद्भुत काव्य-शक्ति, कण्ठ का माधुर्य, आरोग्यवन्त शरीर तथा अन्य अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। शुभ चिन्तन में सहायक सद्बुद्धि की प्राप्ति भी धर्म के प्रभाव से ही होती है।

धर्म तो साक्षात् कल्पवृक्ष है। यह तो सब कुछ देने में समर्थ है, परन्तु अच्छा तो यह है कि इससे कुछ भी मांगो मत। धर्म के पास याचक बनकर मत जाओ, बल्कि सेवक बनकर जाओ। जो धर्म को समर्पित है, उसे धर्म सर्वस्व देने के लिए तैयार है। □

Men believe more from seeing than hearing. The way is long by precepts, short and effective by examples.

दशमभावनाष्टकम्

पालय पालय रे पालय मां जिनधर्म !
मंगलकमलाकेलिनिकेतन ,
करुणाकेतन धीर ।
शिवसुखसाधन भवभयबाधन ,
जगदाधार गम्भीर, पालय० ।। १३२ ।।
सिञ्चति पयसा जलधरपटली ,
भूतलममृतमयेन ।
सूर्याचन्द्रमसावुदयेते ,
तव महिमातिशयेन, पालय० ।। १३३ ।।

अर्थ—हे जिनधर्म ! आप मेरा पालन करो, पालन करो, पालन करो ।

हे मंगललक्ष्मी की क्रीड़ा के स्थान रूप !
हे करुणा की ध्वजा स्वरूप !
हे धैर्यवान् !
हे शिवसुख के साधन !
हे भवभय के बाधक !
हे जगत् के आधारभूत !

हे गम्भीर जिनधर्म ! आप मेरा रक्षण करो ! रक्षण करो ! (ध्रुवपद) ।। १३२ ।।

अर्थ—आपकी महिमा के अतिशय से बादलों की श्रेणी अमृत तुल्य जल से इस पृथ्वी का सिंचन करती है और सूर्य व चन्द्र भी उदय को प्राप्त होते हैं ।। १३३ ।।

विवेचन

धर्म का माहात्म्य

पूज्य उपाध्यायजी म. जिनेश्वरकथित धर्म की स्तवना करते हुए फरमाते हैं कि हे जिनधर्म ! आप हमारा पालन करो, रक्षण करो ।

इस जगत् में आत्मा अनादिकाल से भटक रही है । जन्म-जीवन और मरण के इस चक्रव्यूह में जीवात्मा बुरी तरह से फँसी हुई है ।

शास्त्रकार महर्षियों ने इस संसार को दुःखरूप, दुःखफलक और दुःख-परम्परक कहा है । जीवात्मा के लिए यह संसार दुःखदायी है, दुःख के फल को देने वाला है और अन्त में दुःख की परम्परा को ही बढ़ाने वाला है । चौदह राज-लोक में मोहराजा ने एक ऐसा जाल फैलाया है कि उसमें अत्यल्प जीव ही बच पाते हैं । कदाचित् कोई जीवात्मा संसार-मुक्ति के लिए प्रयत्न कर बैठे तो उसे यह मोहराजा 'सुख' का सुमधुर (?) लालच देकर पुनः नीचे गिरा देता है ।

मोहराजा के चंगुल में से जीवात्मा को बाहर निकालना,

अत्यन्त ही दुष्कर कार्य है। अनन्तकाल से अपनी आत्मा मोह की गुलाम बनी हुई है। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि हमने इस जेल को ही महल मान लिया है। आत्मा की सच्ची स्वतन्त्रता को भूल ही बैठे हैं। जन्म से भेड़-बकरी के टोले में रहा हुआ सिंह अपने आपको सत्त्वहीन मान लेता है, वही हालत हमारी अपनी आत्मा की भी है।

आज तक हमें आत्मा की सच्ची पहचान नहीं हो पाई है। इस संसार में एकमात्र जिनेश्वर परमात्मा ही आत्मा के सच्चे स्वरूप को बताने में समर्थ हैं। अतः उनके द्वारा स्थापित जिनशासन ही हमारी रक्षा कर सकता है। जिनशासन तो मोहराजा के आक्रमण के सामने ढाल का काम करता है।

पूज्य उपाध्यायजी म. प्रार्थना करते हैं कि आज तक मोह के शासन में रहकर मैं मोह का गुलाम बना हूँ। अतः हे जिनधर्म! आप मुझे बचाओ।

जिनधर्म अर्थात् जिनेश्वर की आज्ञा। शास्त्रवचन है— **'आणाए धम्मो'** जिनेश्वर की आज्ञा, यही धर्म है। उनकी आज्ञानुसार जीवन जीना, यही धर्म का आचरण है।

जिनधर्म की अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं—

(1) **यह जिनधर्म मंगलरूप लक्ष्मी का क्रीड़ागृह है:** मंगल अर्थात् मां गालयति (पापात्)। जो आत्मा की पापमय वासनाओं को दूर कर दे, नष्ट कर दे, वह मंगल कहलाता है। अथवा 'मंगुं लाति' अर्थात् जो पुण्य का संग्रह करे, वह मंगल कहलाता है।

'दशवैकालिक' में कहा गया है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है। जिसका मन इस धर्म के विषय में है (अर्थात् जिसके मन में यह धर्म बसा हुआ है।) उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

जिनेश्वर प्ररूपित धर्म की शरणागति स्वीकार करने वाले के लिए जंगल में भी मंगल ही होता है। उसकी समस्त आपत्तियों का निवारण हो जाता है।

(2) **करुणाकेतन**—जिनमन्दिर के ऊपर ध्वजा अनिवार्य है। ध्वजा से मन्दिर की शोभा बढ़ती है। जिनधर्म रूपी मन्दिर की ध्वजा 'करुणा' है। करुणा अर्थात् दया। दूसरे के दुःख के निवारण की इच्छा करुणा है। करुणा से हृदय सुकोमल बनता है। करुणायुक्त हृदय में ही जिनधर्म का वास होता है। जिस आत्मा में अन्य आत्मा के दुःख के प्रति करुणा नहीं है, वह आत्मा जिनधर्म की प्राप्ति के लिए अयोग्य है।

(3) **धीर**—जिनेश्वर का धर्म अत्यन्त ही धीर अर्थात् धैर्य वाला है। अनन्तकाल से हमने इस धर्म की उपेक्षा की थी, किन्तु फिर भी इस धर्म ने अपना धैर्य नहीं खोया। अनन्तकाल के बाद आज भी जो उसकी शरण स्वीकार करता है, उसका अभी भी रक्षण करने के लिए तैयार है, अर्थात् वह अत्यन्त ही धैर्य वाला है।

(4) **शिवसुखसाधन**—जिनेश्वर का धर्म आत्मा के

शाश्वत सुख की प्राप्ति का अमोघ साधन है। आज तक अनन्त आत्माएँ जिनधर्म की शरण स्वीकार कर मोक्षपद को प्राप्त हुई हैं और भविष्य में भी जिनधर्म को स्वीकार कर अनन्त आत्माएँ मोक्ष में जाने वाली हैं।

(5) **भवभयबाधन**—आत्मा के लिए यह संसार ही महा अपायभूत है। जहाँ अजन्मा आत्मा को जन्म लेना पड़ता है, अमृत आत्मा को मरना पड़ता है, अजर आत्मा को जरा का शिकार बनना पड़ता है और नीरोग आत्मा को रोग से पीड़ित बनना पड़ता है।

जिनेश्वर का धर्म आत्मा को समस्त भयों से, दुःखों से मुक्त कर शाश्वत-पद प्रदान करता है।

(6) **जगदाधार**—जिनेश्वर का धर्म सर्व प्राणियों के लिए आधार-स्तम्भ है। आज तक उसने अनन्त आत्माओं को आश्रय-संरक्षण दिया है। वास्तव में, भव के दुःख से मुक्त बनने के लिए जिनेश्वर का धर्म ही आधार-स्तम्भ है।

(7) **गम्भीर**—जिनेश्वर का धर्म समुद्र की भाँति अत्यन्त गम्भीर है।

उपर्युक्त विशेषणों से युक्त जिनधर्म मेरा रक्षण करे।

निरालम्बमियमसदाधारा ,
तिष्ठति वसुधा येन।
तं विश्वस्थितिमूलस्तम्भं ,
त्वां सेवे विनयेन , पालय० ॥ १३४ ॥

अर्थ—आपके प्रभाव से यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन के टिकी हुई है। इस प्रकार विश्वस्थिति के मूल स्तम्भ स्वरूप धर्म की मैं विनयपूर्वक सेवा करता हूँ ।। १३४ ।।

विवेचन

ग्रीष्म के ताप से तपी हुई पृथ्वी को मेघमण्डल अमृततुल्य जलसिंचन द्वारा शान्त करता है। सूर्य दिन में उगकर प्रकाश करता है और चन्द्रमा रात्रि में अन्धकार को दूर करता है। यह सब धर्म का ही प्रभाव है।

यह पृथ्वी बिना किसी आलम्बन के व्यवस्थित रूप से रही हुई है। समुद्र आदि अपनी-अपनी मर्यादा में व्यवस्थित रहे हुए हैं, यह सब धर्म का ही पुण्य प्रभाव है। ऐसे धर्म का पुनःपुनः आचरण व सेवन करना चाहिए। □

दानशीलशुभभावतपोमुख- ,
चरितार्थीकृतलोकः ।
शरणस्मरणकृतामिह भविनां ,
दूरीकृतभयशोकः , पालय० ।। १३५ ।।

अर्थ—दान, शील, शुभ भाव और तप रूप मुख द्वारा जिसने इस जगत् को चरितार्थ किया है, शरण और स्मरण करने वाले भव्य प्राणियों के भय और शोक को जिसने दूर किया है (ऐसा यह जिनधर्म है।) ।। १३५ ।।

विवेचन

धर्म से भय, शोक का नाश

जो दान, शील, तप और भाव रूप चतुर्मुखी धर्म की शरण स्वीकार करती है, वह आत्मा निर्भीक बन जाती है, उसे इस संसार में किसी प्रकार का भय नहीं रहता है।

जिनेश्वर प्ररूपित धर्म में त्रिभुवन-पूज्यत्व का पद प्रदान करने की ताकत रही हुई है।

कुमारपाल भूपाल की आत्मा पूर्व भव में जयताक नामक खूंखार डाकू के रूप में थी, 'मारो, लूटो और मौज करो' यही उसका जीवन-मंत्र बन चुका था, नास्तिकता ने उसकी आत्मा को घेर लिया था। सातों व्यसनों की गुलामी ने उसके जीवन को अधोपतन के गर्त में धकेल दिया था। कुल को कलंकित करने वाले कृत्यों से उसने अपने जीवन को बरबाद कर दिया था।

परन्तु सद्गुरु के संग ने उसकी आत्मा को उत्थान के शिखर पर पहुँचा दिया और अल्प भवों में ही वह आत्मा मुक्ति की अधिकारिणी बन गई।

दुर्गति के द्वार पर खड़ी बंकचूल, अर्जुनमाली, चिलातिपुत्र, रोहिणेय चोर तथा दृढ़प्रहारी आदि की आत्माओं को बचाने वाला कौन? एकमात्र जिनशासन हो न!

दानधर्म ने शालिभद्र का उद्धार किया, शीलधर्म ने सुदर्शन सेठ का उद्धार किया, तपधर्म ने धन्ना अणगार को ऊँचा उठाया और भावधर्म ने भरतजी को केवलज्ञान प्रदान किया। □

क्षमा - सत्य - संतोषदयादिक ,
सुभगसकलपरिवारः ।
देवासुरनरपूजित - शासन ,
कृत-बहुभवपरिहारः , पालय० ।। १३६ ।।

अर्थ—क्षमा, सत्य, सन्तोष और दयादि जिसका सुभग परिवार है, जो देव, असुर और मनुष्यों से पूजित है, ऐसा यह शासन (जिनशासन) बहुत भवों का परिहार करने वाला है ।। १३६ ।।

विवेचन

धर्म से भव-भयनाश

क्षमा, सत्य, सन्तोष और दया आदि सौभाग्यशाली धर्म परिवार के सदस्य हैं। क्षमा आदि १० यतिधर्मों में पाप-निवारण की अद्‌भुत शक्ति रही हुई है।

'क्षम्' धातु सहन करने के अर्थ में होती है। दूसरे के द्वारा किए गए अपमान आदि को शान्त भाव से सहन करना क्षमा कहलाता है।

क्षमाशील व्यक्ति के चरणों में देवता भी नमस्कार करते हैं। भगवान महावीर क्षमा के महासागर थे। कमठ के भयंकर उपसर्ग से भी प्रभु पार्श्वनाथ की आत्मा चलित न बनी और उन्होंने कमठ को क्षमा कर दिया। शत्रु और मित्र के प्रति उनकी समान दृष्टि थी। सिर पर अंगारे रखने वाले के प्रति गजसुकुमाल मुनि की कितनी दिव्य दृष्टि थी? वे तो कहते हैं

'यह तो मेरा उपकारी है, मेरे सिर पर मोक्ष की पगड़ी (पाग) बाँध रहा है।'

शरीर की चमड़ी उतारने वाले के लिए खंधकमुनि ने 'भाई थकी भले रो' (सगे भाई से भी बढ़कर) शब्द का प्रयोग किया था।

सत्य की रक्षा के लिए हरिश्चन्द्र ने राज्य को भी तिलांजलि दे दी थी।

पूणिया श्रावक को अल्प समृद्धि में भी कितना अधिक सन्तोष था!

धर्मरुचि अणगार के हृदय में दया के कितने सुमधुर परिणाम थे कि कड़वे तूंबड़े के साग की एक-दो बूँदों से कुछ चींटियों को मृत देखकर, उन्होंने अपने पेट में ही वह साग परठ लिया। भयंकर और विषैले साग में अद्भुत समाधि-समता भाव का आचरण कर उन्होंने केवलज्ञान और परिनिर्वाण को भी प्राप्त कर लिया।

जिनशासन के अंगभूत क्षमादि धर्मों में अद्भुत शक्ति है।

देव, असुर व नर से पूजित शासन—परमात्मा का शासन त्रिलोकपूज्य है। वैमानिक आदि के इन्द्र परमात्म-शासन की अद्भुत भक्ति करते हैं। भवनपति-व्यन्तर आदि के असुरेन्द्र भी परमात्म-शासन की अद्भुत सेवा करते हैं और सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती आदि तो परमात्म-शासन के चरणों में छह खण्ड की ऋद्धि-समृद्धि का त्याग कर आत्म-समर्पण भी कर देते हैं।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक चारों निकाय के देवता परमात्मा के जन्म आदि कल्याणकों का भव्य उत्सव करते हैं। सौधर्मेन्द्र आदि पशु (बैल) का रूप धारण कर प्रभु का जन्माभिषेक कर अपने आपको धन्य मानते हैं। परमात्म-शासन की सेवा के लिए अत्यन्त समृद्ध राजा-महाराजादि तत्क्षण विशाल राज्य का भी त्याग कर देते हैं।

परमात्मा का शासन आत्मा को भव-परम्परा से मुक्त कराने वाला है। □

बन्धुरबन्धुजनस्य दिवानिश-
मसहायस्य सहायः ।
भ्राम्यति भीमे भवगहनेऽङ्गी ,
त्वां बान्धवमपहाय , पालय० ।। १३७ ।।

अर्थ—यह धर्म बन्धुरहित का बन्धु है और असहाय व्यक्ति के लिए सहायभूत है। आप जैसे बन्धु का त्याग करने वाले इस भीषण संसार में चारों ओर भटकते हैं ।। १३७ ।।

विवेचन

संसार में धर्म ही सच्चा सहायक है

इस भयंकर संसार में आत्मा का सच्चा बन्धु एकमात्र धर्म ही है। दुनिया के अन्य संबंध तो स्वार्थजन्य हैं। अवसर आने पर सगी माँ भी पुत्र का घात कर सकती है। राज्य के लोभ में पुत्र पिता की भी हत्या कर सकता है।

धन के लोभ में अमरकुमार की माँ ने अमरकुमार को बलि हेतु सौंप दिया था।

राज्य-प्राप्ति के लिए कोणिक ने श्रेणिक को भयंकर कारावास में धकेल दिया था।

पुत्र के मोह में फँसी सहदेवी रानी ने अपने पूर्व पति कीर्तिधरमुनि को तिरस्कारपूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया था।

पूर्व भव की माँ इस जन्म में व्याघ्री बनी और उसने सुकौशलमुनि को चीर-फाड़ दिया था।

धनश्री स्त्री ने दीक्षित बने अपने पति धनमुनि के चारों ओर लकड़ियों का ढेर कर आग लगा दी थी, जब वे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित थे।

स्वार्थपूर्ण व्यवहार के सैकड़ों दृष्टान्तों से इतिहास भरा पड़ा है। वास्तव में यह संसार एक मायाजाल ही है, जहाँ मोह के अधीन बनी आत्माएँ स्वजन के वेश में आकर एक-दूसरे के साथ भयंकर मायाचार करती हैं।

ऐसी विषम परिस्थिति में एकमात्र धर्म ही आत्मा का सच्चा साथी और बन्धु है। सहायता के लिए वह हर पल तैयार रहता है। शर्त यह है कि हम उसे हृदय से स्वीकार करें। जिसने एक बार धर्म के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया, धर्म उसकी सदैव रक्षा करता है।

भयंकर से भयंकर कुख्यात डाकू, लुटेरे, व्यभिचारी,

शिकारी, मांसाहारी तथा शराबी भी जब इस धर्म के चरणों में समर्पित हो जाते हैं, तब वे भी पापात्मा मिटकर महात्मा और यावत् परमात्मा बन जाते हैं।

धर्म के चरणों में आत्मसमर्पण, यह आत्मोत्थान की सर्वश्रेष्ठ कला है। इस कला के जो अभ्यासी हैं, वे अवश्य ही शाश्वत-मोक्षपद के भोक्ता बनते हैं। □

द्रङ्क्षति गहनं जलति कृशानुः,
स्थलति जलधिरचिरेण।
तव कृपयाखिलकामितसिद्धि-
र्बहुना किं नु परेण?, पालय० ॥ १३८ ॥

अर्थ—(हे जिनधर्म! आपकी कृपा से) गहन जंगल नगर बन जाते हैं, अग्नि जल बन जाती है और भयंकर सागर भी पृथ्वी में बदल जाता है। आपकी कृपा से सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं। अतः अब दूसरों से क्या? ॥ १३८ ॥

विवेचन

धर्म का प्रत्यक्ष-प्रभाव

धर्म के माहात्म्य का गान करने में कौन समर्थ है? अरे! इस धर्म के प्रभाव से तो भयंकर जंगल भी नगर में रूपान्तरित हो जाते हैं। अग्नि की भीषण ज्वालाएँ भी शीतल जल में परिवर्तित हो जाती हैं, विशाल सागर पृथ्वी में बदल जाता है।

सीता के सतीत्व की परीक्षा के लिए रामचन्द्रजी ने अग्नि-परीक्षा का निर्णय लिया था। नगर के बाहर हजारों की संख्या में प्रजाजन एकत्र हो चुके थे और योग्य भूमि पर अग्निकुण्ड की रचना भी तैयार हो गई थी।

सीता अग्नि-प्रवेश के लिए तैयार थी····उसे अपने सतीत्व पर पूर्ण आत्म-विश्वास था····उसने परमेष्ठि-भगवन्तों का शरण स्वीकार किया····जिनधर्म का शरण स्वीकार किया और तत्क्षण अग्नि में प्रवेश कर दिया। सीता के अग्निप्रवेश के समय चारों ओर हाहाकार मच गया था। अब क्या होगा? क्या सीता बच जाएगी? सीता जल तो नहीं जाएगी? इत्यादि प्रश्न उपस्थित जनसमुदाय के मस्तिष्क में घूम रहे थे। किन्तु एक ही क्षण में जब वह अग्निकुण्ड सरोवर में बदल गया और उस सरोवर के मध्य में सुन्दर कमल पर लक्ष्मी की भाँति बैठी हुई सीताजी को सबने देखा····तो सीता के सतीत्व के जय-जयकार के साथ सम्पूर्ण आकाश-मण्डल गूँज उठा था।

हाँ, यह सती सीता के शीलधर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव था, जिससे आग की लपटें सीता के देह का स्पर्श भी न कर पाईं और जल में बदल गईं।

धर्म के प्रभाव से जंगल में मंगल होता है। 'जहाँ राम वहाँ अयोध्या।' रामचन्द्रजी जहाँ-जहाँ पधारते थे, वहीं अयोध्या खड़ी हो जाती थी, यह उनके धर्म का ही पुण्य प्रभाव था।

मलयसुन्दरी, सुरसुन्दरी आदि अनेक सतियाँ समुद्र में गिर पड़ी थीं, धवल सेठ ने श्रीपाल महाराजा को समुद्र में फेंक दिया

था, किन्तु उनके साथ धर्म होने से समुद्र भी उनको डुबोने में असमर्थ था। समुद्र भी उनके लिए पृथ्वी के समान ही था।

धर्म के प्रभाव से सभी मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

एक धर्म ही मेरी समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है, तो मुझे अन्य के आश्रय से क्या काम है।

कृष्ण में मस्त बनी मीरा गाती थी न? 'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'

बस, जिसे धर्म में सर्वस्व की बुद्धि हो गई है, वह अब अन्य के पास कैसे दौड़ सकता हैं? □

इह यच्छसि सुखमुदितदशाङ्गं ,
प्रेत्येन्द्रादि - पदानि ।
क्रमतो ज्ञानादीनि च वितरसि ,
निःश्रेयस - सुखदानि , पालय० ।। १३९ ।।

अर्थ— (हे जिनधर्म !) इस लोक में आप दसों प्रकार से वृद्धिगत सुख प्रदान करते हो। परलोक में इन्द्र आदि के महान् पद प्रदान करते हो और अनुक्रम से मोक्षसुख प्रदान करने वाले ज्ञानादि भी प्रदान करते हो ।। १३९ ।।

विवेचन

धर्म ही समस्त सुखों का कारण है

धर्म जीवात्मा को दुःख में से मुक्त कर शाश्वत सुख की ओर

ले जाता है। पाप के अधीन बनकर तो आज तक आत्मा ने भयंकर से भयंकर दुःखों का अनुभव किया है।

अपनी आत्म ने इस भयंकर संसार में जिन-जिन दुःखों का, वेदनाओं का अनुभव किया है, उसका वर्णन करने में कौन समर्थ है? यावत् सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी अपनी वाणी से उन दुःखों का वर्णन करने में समर्थ नहीं है।

नरक की भयंकर वेदना····निगोद की वह बेहोशी की हालत तिर्यंच के भव की मारपीट-कत्ल आदि की वेदना.... मानवभव में भी भूख-प्यास-गरीबी-भुखमरी-निर्धनता ···की वेदना का कोई पार नहीं।

दुःख के दाग से कलंकित आत्मा के भयंकर भूतकालीन इतिहास को सुख की ज्योति में रूपान्तरित करने का श्रेय धर्म को ही है। भले ही आत्मा का भूतकाल भयंकर पापों से कलंकित बना हो····किन्तु जब से जिस आत्मा ने अपने आपको धर्म के चरणों में समर्पित कर दिया, तभी से उस धर्म ने आत्मा को सुख के नन्दनवन में प्रवेश दिला दिया।

आज तक जिन-जिन आत्माओं ने मुक्तिपद प्राप्त किया है, उनके अन्तिम ३-५-८-१०-१५-२० भवों को छोड़कर शेष भवों का निरीक्षण करेंगे तो ज्ञात होगा कि वे कितनी भयंकर दुर्दशा की भागी थीं किन्तु जब से उन आत्माओं ने जिनशासन के चरणों में समर्पण कर दिया, तब से उनकी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि बढ़ती ही गई।

विशुद्ध धर्म अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य के उदय से प्राप्त

भौतिक समृद्धि की यह विशेषता होती है कि जीवात्मा उसमें आसक्त नहीं बनती है और निमित्त मिलते ही छह खण्ड के राज्य को भी तृणवत् त्याग देती है। धर्म की यह विशेषता है कि वह अल्प त्याग में अधिक लाभ प्रदान करता है।

शालिभद्र ने पूर्व भव में भाव से खीर का दान दिया था, उसके फलस्वरूप धर्म ने श्रेणिक महाराजा से भी बढ़कर उसे समृद्धि प्रदान की और इसके साथ ही उस समृद्धि के त्याग का भी सामर्थ्य प्रदान किया।

शालिभद्र ने अपनी समस्त सम्पत्ति का त्याग कर दिया तो धर्म ने उसे अनुत्तर विमान का दिव्य सुख प्रदान किया।

व्यक्ति ज्यों-ज्यों सुख का त्याग करता है, धर्म उसे उत्तरोत्तर सामग्री प्रदान करता जाता है और अन्त में शाश्वत-अजरामर पद भी प्रदान करता है। आत्मा की अखूट सम्पत्ति केवलज्ञान और केवलदर्शन और अव्याबाध सुख का दान, यही धर्म करता है।

□

सर्वतन्त्र - नवनीत - सनातन ,
सिद्धिसदनसोपान ।
जय जय विनयवतां प्रतिलम्भित-
शान्तसुधारसपान , पालय० ।। १४० ।।

अर्थ—हे सर्वतन्त्रों में नवनीत समान !
हे सनातन !
हे मुक्ति मंजिल के सोपान !
हे विनयजनों को प्राप्त शान्त अमृत रस के पान !
(हे जिनधर्म) आपकी जय हो ! जय हो !! ।। १४० ।।

विवेचन

जिनधर्म की विशेषताएँ

जिनेश्वर का धर्म अनेक विशेषताओं से युक्त है—

(१) **सर्वतंत्र नवनीत**—तंत्र अर्थात् शासन-व्यवस्था। दुनिया में धर्म के नाम पर अनेक तंत्र हैं। सभी तंत्रों में जिनशासन नवनीत समान है। जिस प्रकार दूध का सार मक्खन है, उसी प्रकार विश्व में सभी धर्मों में सारभूत जिनेश्वर का धर्म ही है।

(२) **सनातन**—जिनधर्म की कोई आदि नहीं है। अनादि-काल से जिनधर्म चला आ रहा है और अनन्तकाल तक इसका अस्तित्व रहेगा। यह जिनशासन त्रिकाल-अबाधित शासन है। दुनिया की कोई शक्ति या दर्शन इसे कुण्ठित नहीं कर सकता है।

(३) **सिद्धिसदन सोपान**—जिस प्रकार मंजिल पर चढ़ने के लिए सीढ़ियों की आवश्यकता रहती है, इसी प्रकार मुक्ति-मंजिल पर पहुँचने के लिए चौदह गुणस्थानक चौदह सीढ़ियों का काम करते हैं। जीवात्मा ज्यों-ज्यों जिनधर्म का आश्रय करती है, त्यों-त्यों वह उत्तरोत्तर गुणस्थान पर आरूढ़ बनती जाती है और अन्त में मोक्षपद को प्राप्त करती है।

(४) **शान्त सुधारस पान**—यह जिनधर्म प्रशान्त अमृत रस के पान तुल्य है। अमृत के पान से आत्मा भी अमृत बनती है। यह जिनधर्म आत्मा के लिए शान्तरस लेकर आता है। इस प्रशमरस का पान करने से आत्मा भी शाश्वत अमृत स्वरूप बन जाती है।

उपर्युक्त विशेषणों से युक्त हे जिनधर्म! आप हमारा पालन करो, रक्षण करो। □

11

लोकस्वरूप भावना

सप्ताऽधोऽधो विस्तृता याः पृथिव्य-
श्छत्राकाराः सन्ति रत्नप्रभाद्याः ।
ताभिः पूर्णो योऽस्त्यधोलोक एतौ,
पादौ यस्य व्यायतौ सप्तरज्जूः ।। १४१ ।।
(शालिनी)

अर्थ—नीचे-नीचे विस्तार पाने वाली, छत्र के आकार वाली रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वियाँ हैं और उनसे परिपूर्ण सात राज-लोकप्रमाण अधोलोक है; जो इस लोक-पुरुष के दो पैर समान है ।। १४१ ।।

विवेचन

अधोलोक का स्वरूप

इस भावना के अन्तर्गत चौदह राजलोक प्रमाण अति विस्तृत विश्व के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए ।

प्रश्न खड़ा हो सकता है कि आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लोक-स्वरूप की भावना की क्या उपयोगिता है ?

समाधान यह है कि लोकस्वरूप के चिन्तन से हमें दुनिया के विस्तृत स्वरूप का परिचय मिलता है और इस विराट् दुनिया के परिचय से आत्मा में धन, वैभव, राज्य, सत्ता आदि का रहा हुआ अभिमान दूर होता है।

इस सन्दर्भ में एक प्रसंग याद आ जाता है—

• बम्बई के गोरेगाँव क्षेत्र के जवाहरनगर में एक करोड़पति सेठ रहता था। उस सेठ ने अपने आवास के लिए सात मन्जिल का आलीशान बंगला बनवाया। आधुनिक फर्नीचर और साज-सज्जा से अलंकृत बैठक खण्ड था। मकान में रेडियो, टी. वी., टेलीफोन, एयर कण्डीशनर आदि की अनेकविध सुविधाएँ थीं। इस वैभव और विलास में मस्त फकीरचन्द सेठ अपनी बाह्य समृद्धि को देख फूले नहीं समाते थे। सदैव उनके मुख पर अपने वैभव का दर्प दिखाई देता था। सेठजी के घर पर जो भी बाहर से मेहमान आते, सेठजी उनके समक्ष अपने वैभव का प्रदर्शन किए बिना नहीं रहते।

एक दिन सेठजी ने एक तपस्वी संन्यासी को अपने घर भोजन के लिए आमन्त्रण दिया।

सेठजी ने अत्यन्त आदर-सत्कार से संन्यासी का स्वागत किया और अत्यन्त उत्साह से उन्हें भोजन कराया।

भोजन-समाप्ति के बाद सेठजी अपने बैठक खण्ड में आए, जहाँ हर प्रकार की सुख-सुविधाएँ थीं।

थोड़ी इधर-उधर की बातचीत के बाद सेठजी ने अपने वैभव के प्रदर्शन की टेप चालू कर दी।

संन्यासी सेठजी की बात ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। सेठजी की बात सुनकर उन्होंने सोचा, सेठजी व्यर्थ ही अपनी तुच्छ सम्पत्ति का अभिमान कर रहे हैं, इन्हें सत्य का बोध अवश्य कराना चाहिये।

संन्यासी ने पास में ही खड़े एक बालक को पूछा-"तू कौनसी कक्षा में पढ़ता है ?" बालक बोला-"मैं मैट्रिक में पढ़ता हूँ।"

संन्यासी-"क्या तुम भूगोल भी पढ़ते हो ?" उसने कहा "हाँ, जी।"

"तो तुम्हारे पास विश्व का नक्शा-एटलस होगा ?"

"हाँ ! जी।"

संन्यासी ने उससे विश्व का नक्शा माँगा। उस विद्यार्थी ने विश्व का नक्शा लाकर संन्यासी को दे दिया।

संन्यासी ने सेठ को कहा-"विश्व के इस नक्शे में भारत कहाँ है ?"

सेठ ने एशिया खण्ड में भारत का स्थान बता दिया।

पुनः संन्यासी ने पूछा—"इसमें महाराष्ट्र कहाँ है ?"

सेठ ने एक छोटा सा स्थान दिखलाते हुए कहा—"यह महाराष्ट्र होना चाहिये।"

"....और इसमें बम्बई कहाँ है ?"

सेठ ने एक बिन्दु तुल्य स्थान बताते हुए कहा—"यह बम्बई है।"

संन्यासी ने पुनः पूछा—"और इस बम्बई में गोरेगाँव कहाँ है ?"

सेठ ने कहा—"इस नक्शे में गोरेगाँव तो नहीं दिख रहा है।"

"तो फिर जवाहरनगर दिखता है ?"

जवाब मिला—"नहीं"।

"आपका मकान ?"

"नहीं।"

सेठ तुरन्त ही इन प्रश्नों के रहस्य को समझ गए। शर्मिन्दा होकर बोले—"आज आपने मुझे अपनी वास्तविक स्थिति का भान कराया है।"

संन्यासी ने कहा—"सेठजी ! जब इस दृश्यमान विश्व में भी अपना कोई स्थान दिखाई नहीं दे रहा है तो फिर इस विराट् ब्रह्माण्ड में अपना क्या स्थान है ? अतः इन तुच्छ सम्पत्तियों का अभिमान करना व्यर्थ है।"

लोकस्वरूप भावना के चिन्तन के अन्तर्गत यह घटना हमें बहुत कुछ सिखाती है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि जब व्यक्ति को थोड़ी सी बाह्य भौतिक सम्पत्ति मिल जाती है, तब उसे तुरन्त अभिमान का नशा चढ़ जाता है और वह यह मानने लगता है कि इस दुनिया में मैं भी कुछ हूँ। I am something.

परन्तु जब **'लोकस्वरूप भावना'** के चिन्तन द्वारा विराट् विश्व का हमें पता चलता है, तब हमें अपनी कूप-मण्डूकता पर हँसी ही आती है।

अब ग्रन्थकार महर्षि की लोकस्वरूप भावना में डूब जायें। जैनदर्शन के अनुसार यह विश्व अनन्त है। इसका पार पाना असम्भव है। इस सम्पूर्ण विश्व को दो भागों में बाँटा गया है– (१) लोक और (२) अलोक।

जिस क्षेत्र में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा कालद्रव्य का अस्तित्व है, उसे **'लोक'** कहते हैं और जहाँ केवल आकाशद्रव्य ही है, अन्य सभी द्रव्यों का अभाव है, उसे **अलोक** कहते हैं।

इस लोकस्वरूप भावना के अन्तर्गत 'लोक' का ही वर्णन किया गया है।

यह सम्पूर्ण लोक १४ राज (एक माप) प्रमाण होने से इसे १४ राजलोक भी कहते हैं।

इस सम्पूर्ण लोक को सरलता के लिए तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(i) अधोलोक, (ii) तिर्च्छालोक और (iii) ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक ७ राजलोक प्रमाण है, तिर्च्छालोक १८०० योजन प्रमाण है और ऊर्ध्वलोक ७ राजलोक प्रमाण है।

संभूतला पृथ्वी से ९०० योजन नीचे जाने के बाद अधोलोक का प्रारम्भ होता है। इसमें ७ नरक-भूमियाँ आई हुई हैं—

(१) **रत्नप्रभा**—प्रथम नरक का नाम रत्नप्रभा है। इस पृथ्वी का पिंड एक लाख अस्सी हजार योजन है। इस नरक-भूमि का प्रथम खण्ड रत्न से भरपूर होने से इस पृथ्वी का नाम

रत्नप्रभा है। इसमें रहने वाले नारकों की जघन्य स्थिति १०,००० वर्ष है और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है।

इस रत्नप्रभा के तीन काण्ड(भाग)हैं। पहला भाग १६००० योजन का है, जिसमें रत्नों की बहुलता है, दूसरा भाग ८४००० योजन का है, जिसमें कीचड़ की बहुलता है और तीसरा भाग ८०,००० योजन का है, जिसमें जल की बहुलता है। इस नरक-भूमि के १३ प्रतर हैं, जिसमें ३० लाख नरकावास हैं।

इस पृथ्वी का नाम घर्मा है।

(२) **शर्कराप्रभा**—कंकड-पत्थर की बहुलता के कारण इस नरक का नाम शर्कराप्रभा है। इसकी ऊँचाई एक राजलोक प्रमाण है। इस नरक में दूसरी नरक-भूमि के जीव रहते हैं। इस नरक के कुल ११ प्रतर हैं, जिनमें पच्चीस लाख नरकावास हैं। इस पृथ्वी का पिंड १ लाख ३२ हजार योजन है। इस नरक के नारकों का जघन्य आयुष्य एक सागरोपम व उत्कृष्ट आयुष्य ३ सागरोपम है। इस नरक-पृथ्वी का नाम वंशा है।

(३) **वालुकाप्रभा**—इस नरक में बालू-रेती की अधिकता होने से इसे वालुकाप्रभा कहते हैं। इस नरक-पृथ्वी का पिंड एक लाख अट्ठाईस हजार योजन का है और कुल ऊँचाई एक राजलोक प्रमाण है। इस नरक-पृथ्वी का नाम 'शैला' है। इसमें कुल ९ प्रतर और १५ लाख नरकावास हैं। इस नरक के नारकों का जघन्य आयुष्य तीन सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य ७ सागरोपम का है।

(४) **पंकप्रभा**—कीचड़ की बहुलता होने से इस पृथ्वी

का नाम पंकप्रभा है। यहाँ चौथे नरक के जीव रहते हैं। इस नरक-पृथ्वी के पिंड की मोटाई एक लाख बीस हजार योजन है, इसमें कुल सात प्रतर और दस लाख नरकावास हैं। यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य ७ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १० सागरोपम है। इस नरक का नाम 'अंजना' है।

(५) **धूमप्रभा**—धुएँ की बहुलता होने के कारण इस पृथ्वी का नाम धूमप्रभा है। इस पृथ्वी का पिंड १ लाख १८ हजार योजन का है। यहाँ ५वीं नरक के जीव रहते हैं। इस पृथ्वी में पाँच प्रतर और तीन लाख नरकावास हैं। यहाँ के नारकों का जघन्यआयुष्य १० सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १७ सागरोपम है।

इस नरक का नाम 'रिष्टा' है।

(६) **तमःप्रभा**—अन्धकार की बहुलता के कारण इस पृथ्वी का नाम तमःप्रभा है। यहाँ छठे नरक के जीव रहते हैं। इस पृथ्वी का पिण्ड १ लाख १६ हजार योजन का है। इसमें कुल तीन प्रतर और ९९९९५ नरकावास हैं। यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य १७ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य २२ सागरोपम है। इस नरक का नाम 'मघा' है।

(७) **तमस्तमःप्रभा**—यहाँ घनघोर अन्धकार होने से इस पृथ्वी का नाम तमस्तमःप्रभा है। इस पृथ्वी का पिण्ड १ लाख ८ हजार योजन है। इसमें एक प्रतर और पाँच नरकावास हैं। यहाँ के नारकों का जघन्य आयुष्य २२ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य ३३ सागरोपम है।

ये सभी नरक अधो-अधो (नीचे-नीचे) छत्राकार रूप में हैं। इन सातों नरकों की चौड़ाई क्रमशः बढ़ती जाती है। सातवीं नरक-भूमि की चौड़ाई ७ राजलोक प्रमाण है। सातवीं नरक के बाद घनोदधि, घनवात और तनवात आता है और उसके बाद अलोक का प्रारम्भ हो जाता है।

वेदना—तीव्र अशाता के उदय से इस पृथ्वीतल पर मनुष्य अथवा तिर्यंच को जो वेदना होती है, उससे अनन्तगुणी वेदना पहली नरक में है और उससे अनेक गुणी पीड़ा दूसरी नरक में है, इस प्रकार पीड़ा क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

नरक के जीवों को तीन प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं—

(1) **क्षेत्रज वेदना**—नरक के जीवों को क्षेत्रजन्य १० प्रकार की वेदनाएँ होती हैं—(१) भयंकर शीत (२) भयंकर गर्मी (३) अत्यन्त क्षुधा (४) अत्यन्त तृष्णा (५) अत्यन्त खाज (६) पराधीनता (७) ताप (८) दाह (९) भय और (१०) शोक की घोर पीड़ाएँ नरक के जीव प्रतिक्षण भोगते हैं।

पौष मास की कड़कड़ाहट की ठण्डी में हिमालय पर्वत पर कोई व्यक्ति जिस ठण्डी का अनुभव करता है, उससे अनन्त गुणी ठण्डी नरक का जीव अनुभव करता है। अग्नि के भयंकर ताप से भी अधिक भयंकर गर्मी वहाँ पर है। अत्यन्त भूख और प्यास से वे पीड़ित होते हैं।

2. **पारस्परिक**—नरक में रहे सम्यग्दृष्टि जीवों को अवधिज्ञान और मिथ्यादृष्टि जीवों को विभंगज्ञान होता है। मिथ्यादृष्टि आत्माएँ अपने ज्ञान का उपयोग अपने शत्रु की

पहिचान में ही करती हैं और वे सदैव एक दूसरे को पीड़ा पहुँचाते रहते हैं।

3. **परमाधामी कृत**—प्रथम तीन नरक तक परमाधामी-देव नरक के जीवों को भयंकर त्रास देते रहते हैं। १५ प्रकार के परमाधामीदेव छेदन-भेदन आदि के द्वारा नरक के जीवों को सतत पीड़ा पहुँचाते रहते हैं।

मिथ्यात्व, महा-आरंभ, परिग्रह, तीव्र क्रोध, दुराचार तथा रौद्रध्यान आदि से जीवात्मा नरक के आयुष्य का बंध करता है।

भवनपति—पहली नरक के १३ प्रतरों के बीच जो १२ अन्तराल स्थल हैं, उसमें प्रथम और अन्तिम अन्तराल को छोड़कर शेष १० अन्तरालों में भवनपति निकाय के देव रहते हैं।

ऊपर के १००० योजन में प्रथम और अन्तिम १००-१०० योजन को छोड़ देने पर जो शेष ८०० योजन हैं, उनमें व्यन्तर-देवों के निवास हैं तथा ऊपर के १०० योजन में पुनः प्रारम्भ व अन्त के १०-१० योजन निकाल देने पर जो ८० योजन का क्षेत्र है, उसमें ८ वाणव्यन्तर के निवासस्थल हैं ।। १ ।। □

तिर्यग्लोको विस्तृतो रज्जूमेकां,
पूर्णो द्वीपैरर्णवान्तैरसंख्यैः ।
यस्य ज्योतिश्चक्रकाञ्चीकलापं,
मध्ये कार्श्यं श्रीविचित्रं कटित्रम् ।। १४२ ।।
(शालिनी)

अर्थ—असंख्य द्वीप-समुद्रों से परिपूर्ण एक राजलोक विस्तार वाला तिच्छ्रालोक है, जिसमें ज्योतिषचक्र लोकपुरुष के कटिप्रदेश पर सुशोभित मेखला के समान है ।। १४२ ।।

विवेचन

तिच्छ्रालोक का स्वरूप

तिच्छ्रालोक—तिच्छ्रालोक अर्थात् तिर्यक्लोक की ऊँचाई १८०० योजन की है और इसकी चौड़ाई (व्यास) एक राजलोक प्रमाण है। इसके मध्य में मेरुपर्वत आया हुआ है, जिसकी ऊँचाई एक लाख योजन की है। मेरुपर्वत का मूल १००० योजन का है और पृथ्वी की ऊँचाई ९९००० योजन है। संभूतला पृथ्वी की चारों दिशाओं के चार रुचक प्रदेश हैं। ऊपर-नीचे इस प्रकार गिनने से ८ रुचक प्रदेश हैं, इनसे ९०० योजन नीचे और ९०० योजन ऊपर का क्षेत्र तिच्छ्रालोक कहलाता है।

यह मेरुपर्वत जम्बूद्वीप में आया हुआ है, जो थाली के आकार का है, जिसका व्यास १ लाख योजन है। जम्बू द्वीप के चारों ओर दो लाख योजन के व्यास वाला वलयाकार लवण-समुद्र है। उस लवणसमुद्र के चारों ओर चार लाख योजन के विस्तार वाला धातकी खण्ड है, उसके चारों ओर आठ लाख योजन के विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है और उसके चारों ओर १६ लाख योजन के विस्तार वाला पुष्कर द्वीप है। उस पुष्कर द्वीप के ८ लाख योजन के बाद चारों ओर वलयाकार रूप में मानुषोत्तर पर्वत आया हुआ है। उस मानुषोत्तर पर्वत के

अन्दर का (४५ लाख योजन प्रमाण) क्षेत्र मनुष्यलोक कहलाता है। मनुष्य की उत्पत्ति इन्हीं ढाई द्वीप के अन्तर्गत होती है।

पुष्कर द्वीप के चारों ओर पुनः समुद्र है। इस प्रकार वलयाकार रूप में एक द्वीप और एक समुद्र आया हुआ है। इस प्रकार तिच्छ्रालोक में कुल असंख्य द्वीप और समुद्र हैं। ये द्वीप और समुद्र अपने पूर्व के द्वीप या समुद्र की अपेक्षा दुगुने-दुगुने व्यास वाले हैं। सबसे अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र आता है, जिसका व्यास अर्द्ध राजलोक प्रमाण है।

जम्बूद्वीप, धातकी खंड और पुष्करार्द्ध द्वीप रूप ढाई द्वीप में १५ कर्मभूमियाँ आई हुई हैं, यहाँ से मोक्षमार्ग सम्भव है। इसके साथ ३० अकर्मभूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप भी हैं, जहाँ युगलिक मनुष्य रहते हैं। ढाई द्वीप में ५ भरत, ५ ऐरवत और ५ महाविदेह क्षेत्र में आए हुए हैं। महाविदेह क्षेत्र में सदैव मोक्षमार्ग चालू है, जबकि भरत और ऐरवत क्षेत्र में १ कालचक्र (२० कोड़ाकोड़ी सागरोपम) में मात्र दो कोटाकोटी सागरोपम तक ही धर्म रहता है। अर्थात् तीसरे और चौथे आरे में ही धर्म रहता है।

ढाई द्वीप के बाहर मनुष्य का न तो जन्म होता है, न मृत्यु होती है और न ही मोक्ष होता है। वहाँ सूर्य-चन्द्र भी स्थिर हैं।

जम्बू द्वीप के मध्य में मेरुपर्वत आया हुआ है, जिसके पंडकवन में तीर्थंकर भगवंतों के जन्म का महोत्सव (देवताओं द्वारा) मनाया जाता है। ढाई द्वीप में कुल १३२ सूर्य और १३२ चंद्र हैं।

इस पृथ्वीतल से ७८० योजन ऊपर जाने पर ज्योतिष चक्र आता है। ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे १२० योजन के अन्दर रहे हुए हैं। □

लोकोऽथोर्ध्वे ब्रह्मलोके द्युलोके ,
यस्य व्याप्तौ कूर्परौ पञ्चरज्जू ।
लोकस्याऽन्तो विस्तृतो रज्जुमेकां ,
सिद्धज्योतिश्चित्रको यस्य मौलिः ।। १४३ ।।

(शालिनी)

अर्थ—उसके ऊपर ब्रह्मदेवलोक तक पाँच राजलोकप्रमाण का भाग लोकपुरुष के विस्तृत दो हाथों की कोहनी समान है तथा एक राजलोक प्रमाण विस्तृत लोक के अन्त भाग में सिद्धशिला के प्रकाश से सुशोभित उसका मुकुट है ।। १४३ ।।

विवेचन

ऊर्ध्वलोक का स्वरूप

ऊर्ध्वलोक—तिर्च्छालोक को पार करने के बाद असंख्य योजन ऊपर जाने पर सर्वप्रथम पहला और दूसरा वैमानिक देवलोक आता है, जिसे सौधर्म और ईशान देवलोक कहते हैं। इन देवों के निवास-स्थल विमान होने से वे वैमानिक कहलाते हैं। इनमें दो प्रकार की देवियाँ होती हैं—परिगृहीता और अपरिगृहीता। इन दो देवलोक में मनुष्यवत् मैथुन भी होता है। सौधर्म देवलोक में ३२ लाख और ईशान देवलोक में २८ लाख विमान हैं। सौधर्म देवलोक का जघन्य आयुष्य १ पल्योपम और उत्कृष्ट

आयुष्य दो सागरोपम है तथा ईशान देवलोक के देवों का जघन्य आयुष्य १ पल्योपम से कुछ अधिक है तथा उत्कृष्ट आयष्य दो सागरोपम से कुछ अधिक है।

किल्बिषिक—पहले-दूसरे देवलोक के नीचे किल्बिषिक देवों के विमान हैं। ये देव हल्की जाति के कहलाते हैं। इन देवों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम है।

किल्बिषिक—पहले-दूसरे देवलोक के ऊपर दूसरे किल्बिषिक के विमान हैं। इनका उत्कृष्ट आयुष्य तीन सागरोपम है।

३-४. सनत्कुमार-माहेन्द्र—सनत्कुमार देवलोक में १२ लाख विमान हैं। इनका जघन्य आयुष्य दो सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य ७ सागरोपम है। ये देव स्पर्श कर मैथुन सेवन करते हैं।

माहेन्द्र देवलोक में ८ लाख विमान हैं। इन देवों का जघन्य आयुष्य २ सागरोपम से अधिक और उत्कृष्ट आयुष्य ७ सागरोपम से अधिक है।

५. ब्रह्मदेवलोक—इस देवलोक में चार लाख विमान हैं। इन देवों का जघन्य आयुष्य ७ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १० सागरोपम है।

किल्बिषिक—ब्रह्मदेवलोक के ऊपर और लान्तक देवलोक के नीचे तीसरे किल्बिषिक देवों के विमान हैं। उनका उत्कृष्ट आयुष्य १३ सागरोपम है।

६. लान्तक—ब्रह्मदेवलोक के ऊपर छठा लान्तक देवलोक

आया हुआ है। इस लान्तक देवलोक में ५०,००० विमान हैं। यहाँ के देवों का जघन्य आयुष्य १० सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १४ सागरोपम है। ये देव, देवी के रूप को देखकर तृप्त हो जाते हैं।

नौ लोकान्तिक—पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के पास नौ लौकान्तिक देवविमान आए हुए हैं। तीर्थंकर परमात्मा की दीक्षा के १ वर्ष पूर्व ये देव आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना करते हैं, ये देव एकावतारी होते हैं।

७. महाशुक्र—छठे देवलोक पर महाशुक्र नामक सातवाँ वैमानिक देवलोक आया हुआ है। इस देवलोक में ४०,००० विमान हैं। यहाँ के देवों का जघन्य आयुष्य १४ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १७ सागरोपम है।

८. सहस्रार—महाशुक्र विमान के ऊपर सहस्रार नामक आठवाँ देवलोक आया हुआ है। इन देवों का जघन्य आयुष्य १७ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १८ सागरोपम है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच मरकर अधिक से अधिक आठवें देवलोक तक जा सकते हैं।

९-१०. आनत-प्राणत—आठवें देवलोक के ऊपर पास-पास में आनत और प्राणत देवलोक आए हुए हैं। आनत देवों का जघन्य आयुष्य १८ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य १९ सागरोपम है तथा प्राणत देवों का जघन्य आयुष्य १९ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य २० सागरोपम है। ये देव मन से ही देवी आदि का स्मरण कर तृप्त हो जाते है।

११-१२. आरण-अच्युत—नौवें-दसवें देवलोक के ऊपर

आरण और अच्युत देवविमान आए हुए हैं। इन दोनों में ३००-३०० विमान हैं। आरण देवों का जघन्य आयुष्य २० सागरोपम और उत्कृष्ट-आयुष्य २१ सागरोपम है तथा अच्युत देवों का जघन्य आयुष्य २१ सागरोपम व उत्कृष्ट आयुष्य २२ सागरोपम है।

नव ग्रैवेयक—बारह वैमानिक देवलोक के ऊपर नव (नौ) ग्रैवेयक के ऊपर-ऊपर विमान आए हुए हैं। इन देवों का जघन्य आयुष्य २२ सागरोपम और उत्कृष्ट आयुष्य ३१ सागरोपम है। अभव्य की आत्मा निरतिचार चारित्र का पालन कर अधिकतम नौ ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकती है।

पाँच अनुत्तर—ग्रैवेयक विमानों के बाद पाँच अनुत्तर विमान आते हैं। इन पाँचों अनुत्तर के देव अवश्यमेव समकिती होते हैं। इनके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध नाम हैं। अनुत्तर देवों का जघन्य आयुष्य ३१ सागरोपम और उत्कृष्ट-आयुष्य ३३ सागरोपम है। अनुत्तरगामी देवों के नरक और तिर्यंचगति के द्वार बंद हो जाते हैं, ये देव अल्प भवों में ही मोक्ष जाने वाले होते हैं।

५ अनुत्तर से ऊपर १२ योजन जाने पर ४५ लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला आती है, जो स्फटिक रत्नमय है, जो मध्य में ८ योजन मोटी और किनारे पर बिल्कुल मक्खी की पाँख की भाँति पतली है। यह सिद्धशिला उलटे छत्राकार की भाँति है।

सिद्धशिला से ऊपर १ योजन जाने पर चौदह राज लोक का अग्र भाग आता है जहाँ अनन्त सिद्ध भगवन्त रहे हुए हैं।

सिद्ध भगवंतों की जघन्य अवगाहना १ हाथ ८ अंगुल और उत्कृष्ट अवगाहना ३३३$\frac{1}{3}$ योजन है। □

यो वैशाखस्थानकस्थायिपादः ,
श्रोणीदेशे न्यस्त-हस्त-द्वयश्च ।
कालेऽनादौ शश्वदूर्ध्वमत्वाद् ,
बिभ्राणोऽपि श्रान्तमुद्रामखिन्नः ।। १४४ ।।
(शालिनी)

अर्थ—लोकपुरुष की स्थिति इस प्रकार है—वह समान रूप से फैलाए हुए पैर वाला, जिसके दोनों हाथ कटिप्रदेश पर रहे हुए हैं और अनादिकाल से जो ऊर्ध्वमुख किए, श्रान्त मुद्रा को धारण करके जो अखिन्न रूप से खड़ा है ।। १४४ ।।

विवेचन

लोकपुरुष की आकृति

यह चौदह राजलोक प्रमाण लोक, लोक-पुरुष की भाँति है, जो अनादि काल से अश्रांत होकर खड़ा है, अनन्त काल तक इसका अस्तित्व बना रहेगा, फिर भी इसमें लेश भी परिवर्तन नहीं होगा।

दो पैरों को चौड़ा करके तथा दोनों हाथों को कटि पर लगाए हुए पुरुष की भाँति इस चौदह राजलोक की आकृति है। सातवीं नरक का विस्तीर्ण भाग सात राजलोक प्रमाण चौड़ा है। मध्य भाग में इसकी चौड़ाई कम हो जाती है और मात्र एक राजलोक प्रमाण रहती है। दोनों कुहनियों के स्थान के बीच ५

राजलोक का विस्तार है, जहाँ मध्य में ब्रह्मदेवलोक आया हुआ है। गले के स्थान पर ९ ग्रैवेयक आए हुए हैं और मुख के स्थान पर ५ अनुत्तर। सबसे ऊपर सिद्ध भगवंत आए हुए हैं।

इस चौदह राजलोक रूप विश्व का कोई कर्त्ता या संहारक नहीं है। □

सोऽयं ज्ञेयः पुरुषो लोकनामा,
षड्द्रव्यात्माऽकृत्रिमोऽनाद्यनन्तः।
धर्माधर्माकाशकालात्मसंज्ञै-
र्द्रव्यैः पूर्णः सर्वतः पुद्गलैश्च ।। १४५ ।।

अर्थ—यह लोक–नामधारी 'लोक पुरुष' षड्द्रव्यात्मक, अनादि-अनन्त स्थिति वाला तथा अकृत्रिम है तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय से पूर्ण रूप से व्याप्त है ।। १४५ ।।

विवेचन

लोक में विद्यमान द्रव्य

इस चौदह राजलोक रूप विश्व में छह द्रव्य रहे हुए हैं।

१. **धर्मास्तिकाय**—यह द्रव्य चौदह राजलोक में फैला हुआ है। इसका कार्य जीव और पुद्गल को गति में सहायता करना है।

जिस प्रकार जल की सहायता से मछली पानी में गति कर

सकती है, उसी प्रकार इस द्रव्य की सहायता से जीव व पुद्गल लोक में गति करते हैं। यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा देशगत है।

२. **अधर्मास्तिकाय**—यह द्रव्य भी चौदह राजलोक में फैला हुआ है। यहं द्रव्य जड़ और चेतन को स्थिरता में सहायक है। धर्मास्तिकाय की भाँति यह भी अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा देशगत है।

३. **आकाशास्तिकाय**—यह द्रव्य लोक और अलोक दोनों में रहा हुआ है। यह द्रव्य अन्य सभी द्रव्यों को अवकाश प्रदान करता है। यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, सप्रदेशी, अक्रिय, नित्य तथा सर्वगत है।

५. **पुद्गलास्तिकाय**—इकट्ठा होना और बिखर जाना यह पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव है। इस दुनिया में जितनी भी भौतिक सामग्रियाँ दिखाई देती हैं, वे सब पुद्गल द्रव्य से ही निर्मित हैं। पुद्गल द्रव्य परिणामी अर्थात् परिणमनशील है, रूप, रस, गंध और स्पर्श इसके गुण हैं। यह मूर्त, सप्रदेशी और सक्रिय भी है। यह द्रव्य चौदह राजलोक में व्याप्त है।

५. **काल**—जो नई वस्तु को पुरानी बनाता है, उस द्रव्य को काल द्रव्य कहते हैं। यह द्रव्य अपरिणामी, अमूर्त, अप्रदेशी, नित्य, अक्रिय तथा देशगत है।

६. **जीवास्तिकाय**—जिसमें चेतना है, उसे जीव कहते हैं। प्रत्येक जीव में असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं। अनेक प्रदेशों के समूह वाला होने से जीव को **जीवास्तिकाय** भी कहते हैं। इस

जीव तत्त्व के संसारी और मुक्त आदि अन्य-२ अपेक्षाओं से अनेक भेद हैं। यह आत्मा अपने कर्म का कर्त्ता है, भोक्ता है तथा कर्म से मुक्त भी बन सकता है।

इस प्रकार यह लोक षड्द्रव्यों से बना हुआ है अथवा उनसे भरपूर है। चौदह राजलोक के चारों ओर अलोक आया हुआ है, जिसका कोई अन्त ही नहीं है, जहाँ एकमात्र आकाश द्रव्य है। □

रङ्गस्थानं पुद्गलानां नटानां ,
नानारूपैर्नृत्यतामात्मनां च ।
कालोद्योगस्व-स्वभावादिभावैः ,
कर्मातोद्यैर्नर्तितानां नियत्या ।। १४६ ।।

अर्थ—नियति, काल, उद्यम और स्वभाव आदि भावों से तथा कर्म रूपी वाद्य यंत्र की सहायता से अनेक रूपधारी नट की तरह जीव और पुद्गलों की यह रंगभूमि है ।। १४६ ।।

विवेचन

जीव और पुद्गलों की रंगभूमि

इस चौदह राजलोक में यह जीव नट की भाँति अनादि काल से नाच कर रहा है। नाना प्रकार के पुद्गलों के संग में आकर यह जीव अनेकविध नाटक खेल रहा है। यह चौदह राजलोक जीव और पुद्गल के नाच की रंगभूमि है। पुद्गल द्रव्य में भी प्रतिसमय परिवर्तन चालू है। कर्म के वशीभूत जीव में भी विविध परिवर्तन चालू ही हैं। कभी यह आत्मा

राजा बनकर सब पर अपना हुकम चलाती है तो कभी रंक बनकर सबके सामने दीनता प्रगट करती है। कभी दानवीर बनती है तो कभी भिखारी बनती है। राजा-रंक, गरीब-अमीर, शक्तिशाली-शक्तिहीन तथा पंडित-मूर्ख आदि के अनेक पात्र यह आत्मा इस संसार रूपी रंग-भूमि पर भजती रहती है।

इस नाटक में काल, स्वभाव, कर्म, नियति और पुरुषार्थ भी काम करते रहते हैं।

पुद्गल द्रव्य अचेतन होते हुए भी उसमें अत्यधिक शक्ति रही हुई है। □

एवं लोको भाव्यमानो विविक्त्या,
विज्ञानां स्यान्मानसस्थैर्यहेतुः ।
स्थैर्यं प्राप्ते मानसे चात्मनीना-
सुप्राप्यैवाऽऽध्यात्मसौख्य - प्रसूतिः ।। १४७ ।।

अर्थं—इस प्रकार विवेक से लोक स्वरूप-का विचार बुद्धिमान् पुरुष को चित्त की स्थिरता में सहायक होता है। इस प्रकार चित्त को स्थिर करने से आत्महित होता है और अध्यात्म-सुख सुलभ बनता है ।। १४७ ।।

विवेचन

लोकस्वरूप चिन्तन से मानसिक शान्ति

इस प्रकार विवेकपूर्वक लोक के स्वरूप का चिन्तन करने से मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है। मन की चंचलता एक बहुत

बड़ा दुर्गुण है। आत्मचिन्तन के बिना उसका निराकरण शक्य नहीं है। इस विस्तृत लोकस्वरूप का चिन्तन हमारे मन की स्थिरता में सहायक बनता है। विस्तृत लोकस्वरूप के चिन्तन से हमें यह पता चलता है कि हमारी आत्मा इस विशाल लोक में किस प्रकार भटक रही है। कभी वह मनुष्य के रूप में रही है तो कभी वह पशु चेतना के रूप में। कभी अपनी आत्मा ने देवत्व प्राप्त किया तो कभी वह नारक भी बनी है। इस प्रकार एक नट की भाँति भ्रमण कर रही अपनी आत्मा ने अनेक रूप किए हैं।

अपनी आत्मा के भवभ्रमण के चिन्तन से हमें इस संसार के प्रति निर्वेद पैदा हो सकता है। कैसा यह भीषण संसार है? जहाँ जन्म-मरण की भयंकर कैद में हमारी आत्मा नाना प्रकार की आपत्तियों का ग्रास बनती जा रही है।

यह संसार वास्तव में दुःख रूप, दुःखफलक और दुःखानुबन्धक ही है। यहाँ का क्षणिक सुख भी भावी भयंकर दुःख का ही कारण बनता है।

अपनी आत्मा का भूतकाल भयंकर दुःखों में ही व्यतीत हुआ है, इस संसार में मधु-बिन्दु तुल्य कहीं क्षणिक सुख है तो उस सुख के पीछे पुनः दुःख का ही पहाड़ खड़ा हुआ दिखाई देता है।

इस प्रकार लोकस्वरूप के चिन्तन से मन की स्थिरता प्राप्त होती है और मन की स्थिरता एक बार प्राप्त हो जाय तो उसमें से आत्महितकर अध्यात्म-सुख की प्राप्ति सुलभ हो जाय।

एकादशभावनाष्टकम्

विनय ! विभावय शाश्वतं,
हृदि लोकाकाशम् ।
सकलचराचरधारणे ,
परिणमदवकाशम् । विनय० ।। १४८ ।।

अर्थ—हे विनय ! तू अपने हृदय में शाश्वत लोकाकाश के स्वरूप का विचार कर, जिसमें सकल चराचर पदार्थों को धारण करने का सामर्थ्य रहा हुआ है ।। १४८ ।।

विवेचन

लोकाकाश का स्वरूप

पूज्य उपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी महाराज अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि 'हे विनय ! तू इस शाश्वत लोकाकाश का चिन्तन कर ।'

एक राजलोक के असंख्य योजन होते हैं । यह लोकाकाश चौदह राजलोक प्रमाण है । यह लोकाकाश समस्त धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को अवकाश देता है । आकाश द्रव्य का यह गुण है कि वह अपने आश्रित द्रव्य को रहने के लिए स्थान देता है ।

धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्य इसी लोकाकाश स्वरूप चौदह राजलोक में रहे हुए हैं। इनमें से कुछ द्रव्य परिणामी हैं, कुछ अपरिणामी हैं, कुछ द्रव्य स्थिर हैं, चर हैं तथा कुछ द्रव्य अस्थिर अर्थात् चर हैं। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय द्रव्य चौदह राजलोक रूप लोकाकाश में सर्वव्यापी और स्थिर हैं जबकि जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय अचर द्रव्य हैं। इस चौदह राजलोक में उनका परिभ्रमण होता रहता है।

पुद्गलास्तिकाय के सूक्ष्मांश भाग को परमाणु कहते हैं, ऐसे एक-एक परमाणु भी स्वतन्त्र रूप में बिखरे हुए हैं। एक परमाणु में भी रूप-रस-गन्ध और स्पर्श पाए जाते हैं। जब दो-दो परमाणु परस्पर मिलते हैं तो वे 'द्विपरमाणु वर्गणा' कहलाते हैं, ऐसी भी अनेक वर्गणाएँ चौदह राजलोक में चारों ओर फैली हुई हैं। तीन-तीन परमाणु पुद्गल के समूह से बनी हुई वर्गणा भी चौदह राजलोक में बहुत सी हैं। इस प्रकार चार-पाँच क्रमशः हजार, लाख, असंख्य और अनन्त परमाणु पुद्गलों के समूह से बनी हुई वर्गणाएँ इस चौदह राजलोक में फैली हुई हैं। इनमें से अनेक वर्गणाएँ अग्राह्य अर्थात् जीव के द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और कुछ वर्गणाएँ जीव द्वारा ग्राह्य हैं।

पुद्गल द्रव्य की पर्यायें (अवस्थाएँ) प्रतिसमय बदलती रहती हैं। उसके रूप-रस-गन्ध-स्पर्श भी परिवर्तनशील हैं। कभी उसका रूप सुन्दर होता है तो कभी वह कुरूप बन जाता है। कभी वह सुगन्धित होता है तो कभी वह अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त बन जाता है।

अपना शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का बना हुआ है, उसके रूपादि में होने वाले परिवर्तन हमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

इस चौदह राजलोक में अनन्तानन्त आत्माएँ रही हुई हैं, जिन्हें जीवास्तिकाय द्रव्य कहते हैं।

जीवों के मुख्य दो भेद हैं—मुक्त और संसारी।

मुक्तात्माएँ चौदह राजलोक के अग्रभाग में अपने पूर्व त्यक्त देह की दो तिहाई अवगाहना में रही हुई हैं। वे आत्मा की शुद्धावस्था को प्राप्त होने से अरूपी अर्थात् निराकार हैं। सिद्धात्मा के आत्मप्रदेश अपनी निश्चित अवगाहना में रहे हुए हैं। वे आत्माएँ संसार में पुनः जन्म नहीं लेती हैं, वे तो अपने स्वभाव में सदा के लिए स्थिर हैं। इस दृष्टि से मुक्तात्माएँ अचर अर्थात् स्थिर हैं।

संसारी आत्माएँ कर्म से बँधी हुई होने के कारण इस संसार में परिभ्रमण करती रहती हैं। उनका इस संसार में कोई एक निश्चित शाश्वत स्थान नहीं है। एक सरकारी कर्मचारी की भाँति थोड़े-थोड़े समय के बाद उनका स्थान-परिवर्तन होता रहता है। एक योनि से दूसरी योनि में, एक गति से दूसरी गति में जीवात्मा परिभ्रमण करती रहती है।

संसारी जीवों में भी जीवों के मुख्य दो भेद हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीव अपनी इच्छानुसार कहीं जा-आ सकता है, जबकि स्थावर अपनी इच्छानुसार गमनागमन नहीं कर सकता है।

इस प्रकार इस लोकाकाश में अनेकविध चर और अचर द्रव्य रहे हुए हैं।

उन सब द्रव्यों को धारण करके यह लोकाकाश, अनादिकाल

से अपनी स्थिति में खड़ा है। अर्थात् इस लोकाकाश की यह स्थिति अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक भी अपनी इसी स्थिति में रहने वाला है। त्रिकाल स्थायी होने से यह विश्व शाश्वत है। □

लसदलोकपरिवेष्टितं ,
गणनातिगमानम् ।
पञ्चभिरपि धर्मादिभिः ,
सुघटितसीमानम् , विनय० ।। १४९ ।।

अर्थ—यह लोकाकाश अगणित (असंख्य) योजन प्रमाण वाला है और चारों ओर अलोक से घिरा हुआ है। धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकाय से इसकी मर्यादा नियत बनी हुई है ।। १४९ ।।

विवेचन

लोकाकाश का प्रमाण

यह चौदह राजलोक स्वरूप लोकाकाश असंख्य योजन का है। इसकी गणना करना हमारे वश की बात नहीं है। फिर भी विशेष ज्ञान (अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान) के आलम्बन से इसके अन्त को देखा व जाना जा सकता है, परन्तु इस चौदह राजलोक के चारों ओर जो 'अलोक' रहा हुआ है, उसका तो कोई अन्त ही नहीं है। केवली की दृष्टि में भी वह अनन्त ही है। उसके अन्त को कोई पा नहीं सकता है। चौदह राजलोक के चारों ओर वह अनन्त स्वरूप में विद्यमान है।

अनन्त अलोक के आगे तो यह चौदह राजलोक भी सिन्धु में बिन्दु तुल्य ही है।

अनन्त अलोक के बीच यह लोक दीपक की भाँति सुशोभित है।

धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य लोकाकाश में ही विद्यमान हैं, अलोक में नहीं। अलोक में एकमात्र आकाश (Space) है।

मुक्तात्मा सदैव ऊर्ध्वगति करती है, परन्तु उस गति में भी उसे धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता रहती है। मुक्तात्मा चौदह राजलोक से ऊपर उठकर अलोक में नहीं जाती है, इसका एक-मात्र कारण अलोक में धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव है।

इस गाथा में ग्रन्थकार महर्षि ने पाँच द्रव्य बतलाए हैं। वे किसी विवक्षा से ही बतलाए गये हैं। कोई आचार्य काल को स्वतंत्र रूप में द्रव्य नहीं मानते हैं। उनके अभिप्राय को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने लोक में पाँच द्रव्य बतलाए हैं।

लोक और अलोक में आकाश द्रव्य तो समान रूप से रहा हुआ है, परन्तु लोक और अलोक का भेद करने वाले ये धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य ही हैं।

ग्रन्थकार ने '**पञ्चभिरपि धर्मादिभिः**' जो कहा है, उससे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल द्रव्य भी ले सकते हैं, क्योंकि ये पाँच द्रव्य ही अलोक और लोक में भेद करने वाले हैं। ये पाँच द्रव्य ही लोक की सीमा को मर्यादित करते हैं। □

समवघातसमये जिनैः ,
परिपूरितदेहम् ।
असुमदणुकविविध-क्रिया- ,
गुणगौरवगेहम् , विनय० ।। १५० ।।

अर्थ—केवली भगवन्त केवली समुद्घात के समय अपने आत्मप्रदेशों से समस्त लोकाकाश को भर देते हैं, यह जीव और पुद्गल की विविध क्रिया के गुण-गौरव का स्थान है ।। १५० ।।

विवेचन

लोकाकाश में जीव-पुद्गल की विभिन्न क्रियाएँ

शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा समस्त घाती (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) कर्मों का क्षय कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी और वीतराग बनती है। शुक्लध्यान के द्वारा आत्मा अन्य कर्मों का क्षय कर सकती है। परन्तु आयुष्य कर्म का क्षय नहीं कर सकती है। केवली भगवन्त का आयुष्य निरुपक्रम होता है अर्थात् उनके आयुष्य कर्म पर किसी प्रकार का उपक्रम नहीं लगता है। अपवर्तना आदि करण के द्वारा आयुष्य कर्म को कम नहीं किया जा सकता है।

देव, नारक, चरमशरीरी, त्रिषष्टिशलाकापुरुष तथा युगलिक आदि का आयुष्य निरुपक्रम होता है तथा अन्य जीवों का आयुष्य सोपक्रम भी हो सकता है। प्रयत्नविशेष से सोपक्रम आयुष्य को कम किया जा सकता है।

मोक्षगामी केवलज्ञानी आत्मा के आयुष्य कर्म की स्थिति

अल्प हो और वेदनीय, नाम व गोत्र कर्म की स्थिति अधिक हो तो उन्हें केवलीसमुद्घात करना पड़ता है।

केवलीसमुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति को कम किया जाता है। केवलज्ञानी अपने आयुष्य के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में केवलीसमुद्घात रूप विशेष प्रयोग करते हैं। इस प्रयोग में किसी भी प्रकार के कर्मों का बन्ध नहीं होता है, बल्कि कर्मों की निर्जरा ही होती है।

केवलीसमुद्घात का कुल काल आठ समय का है। इस समुद्घात में केवलज्ञानी आत्मा के समस्त आत्मप्रदेश शरीर में से बाहर निकलते है और वे प्रदेश समस्त राजलोक में फैल जाते हैं जिनका क्रम इस प्रकार है—

प्रथम समय में केवलज्ञानी के स्वशरीर प्रमाण चौड़े और ऊर्ध्व-अधोलोक प्रमाण ऊँचे स्वात्मा की दण्डाकृति बनती है।

दूसरे समय में पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण आत्मा की कपाटाकृति बनती है।

तीसरे समय में आत्मा की मंथनाकृति बनती है।

चौथे समय में आत्मा समग्र लोकव्यापी बन जाती है।

अब पुनः संहरण की क्रिया प्रारम्भ होती है।

पाँचवें समय में आत्मा मंथनाकृति में आ जाती है।

छठे समय में आत्मा कपाटाकृति में आ जाती है।

सातवें समय में आत्मा दण्डाकृति में आ जाती है और

आठवें समय में आत्मा पुनः स्वदेहस्थ हो जाती है।

इस प्रकार इस 'केवलीसमुद्घात' द्वारा केवलज्ञानी आत्मा समस्त राजलोक-व्यापी बन जाती है।

इस केवली-समुद्घात के प्रयोग द्वारा केवलज्ञानी आत्मा अपने नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति को घटाकर आयुष्य कर्म के तुल्य बना देती है और उस आयुष्य की समाप्ति के साथ समस्त कर्मों का क्षय कर आत्मा शाश्वत अजर-अमर पद को प्राप्त कर लेती है।

इस लोकाकाश के जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने ही आत्म-प्रदेश अपनी आत्मा के हैं। लोकाकाश और आत्मा के प्रदेशों की संख्या तुल्य है। कुल आकाश-प्रदेश और आत्म-प्रदेश असंख्य हैं।

यह लोकाकाश जीव और अजीव (पुद्गल) की विविध क्रियाओं का मन्दिर है। जीव और अजीव के अनेक संयोग-वियोग यहाँ होते रहते हैं। इस लोकाकाश में परमाणु भी सतत गतिशील हैं, उसके भावों में परिवर्तन आता रहता है। जीव की भी स्थिति सर्व काल समान नहीं है। उसकी भी पर्यायें, अवस्थाएँ प्रति समय बदलती रहती हैं। □

एकरूपमपि पुद्गलैः ,
कृतविविधविवर्तम् ।
काञ्चनशैलशिखरोन्नतं ,
क्वचिदवनतगर्तम् ।। विनय० ।। १५१ ।।

क्वचन तविषमणिमन्दिरै-
रुदितोदितरूपम् ।
घोरतिमिरनरकादिभिः ,
क्वचनातिविरूपम् , विनय० ।। १५२ ।।
क्वचिदुत्सवमयमुज्ज्वलं ,
जयमङ्गलनादम् ।
क्वचिदमन्द हाहारवं ,
पृथुशोक-विषादम् , विनय० ।। १५३ ।।

अर्थ—यह लोकाकाश एकस्वरूपी होते हुए भी इसमें पुद्गलों के द्वारा विविधता की हुई है। कहीं पर स्वर्ण के शिखर वाला उन्नत मेरुपर्वत है तो कहीं पर अत्यन्त भयंकर खड्डे भी हैं ।। १५१ ।।

अर्थ—कोई स्थल देवताओं के मणिमय मन्दिरों से सुशोभित है तो कुछ स्थल महाअन्धकारमय नरकादि से भी अति भयंकर हैं ।। १५२ ।।

अर्थ—कहीं पर जय-जयकार के मंगल नाद से व्याप्त उत्सवमय उज्ज्वलता है तो कहीं पर भयंकर शोक और विषादयुक्त हाहाकारमय वातावरण है ।। १५३ ।।

विवेचन

लोकाकाश की विचित्रता

लोकाकाश अपने स्वरूप में एक समान होने पर भी जीव और पुद्गल की गतिविधियों से उसमें अनेक भेद पड़ते हैं।

इस लोकाकाश में कहीं पर एक लाख योजन का स्वर्णिम मेरुपर्वत है, तो कहीं पर भयंकर ग्रह भी हैं। कहीं पर वृत्ताकार रजतमय वैताढ्य पर्वत है तो कहीं पर अन्य पर्वत हैं।

मध्य लोक में असंख्य द्वीप और समुद्र आए हुए हैं, ये द्वीप-समुद्र एक दूसरे से दुगुने-दुगुने व्यास वाले हैं।

मनुष्य लोक में भी पर्वत, ग्रह, वर्षधर क्षेत्र आदि की विविधताएँ हैं।

लोकाकाश में कहीं पर रत्नमण्डित विशाल विमान भी हैं। भवनपति, व्यन्तर आदि के निवास-स्थान 'भवन' कहलाते हैं और वैमानिक देवों के निवासस्थान 'विमान' कहलाते हैं। देवताओं के ये निवासस्थल शाश्वत हैं। देवताओं के ये विमान रत्नमय होने से अत्यन्त प्रकाशमान हैं। वहाँ अन्धकार का नामोनिशान नहीं है। इन्द्रों की सौधर्म-सभा आदि का वर्णन इस कलम से अशक्य ही है।

मध्यलोक के नीचे अधोलोक आया हुआ है, जहाँ सात नरक हैं। वे नरकभूमियाँ अत्यन्त ही भयानक और रौद्र स्वरूप वाली हैं। कहीं-कहीं पर यह भूमि अत्यन्त ही उष्ण है तो कहीं पर अत्यन्त शीत।

उन नरकों में नारकी जीव सतत भयंकर दुःखों से पीड़ित होते हैं। उनकी क्षुधा कभी तृप्त नहीं होती है।

भयंकर गर्मी से सन्तप्त होकर जब वे किसी वृक्ष की शीतल छाया का आश्रय करने जाते हैं, तो उन पर तीक्ष्ण बाणों के

समान पत्तों की वृष्टि होती है और उनका शरीर बींध लिया जाता है।

कभी-कभी परमाधामीदेव उन्हें भयंकर दुर्गन्धमय वैतरणी नदी में डाल देते हैं। नरक के जीवों को तीव्र अशाता वेदनीय का उदय होता है, जिस कर्म के फलस्वरूप वे भयंकर अशाता के भागी बनते हैं। नरक के जीव सतत भय संज्ञा से ग्रस्त होते हैं। परमाधामीदेव छेदन-भेदन के द्वारा उन्हें सतत संत्रस्त करते रहते हैं।

नरक में सूर्य का प्रकाश न होने से वहाँ घोर अन्धकार छाया रहता है।

इस प्रकार यह लोकाकाश विविधताओं से भरा पड़ा है।

लोकाकाश में कहीं पर जीवात्माएँ सुख के महासागर में डूबी हुई हैं तो कहीं पर घोर भयंकर वेदनाओं को सहन कर रही हैं। कहीं पर आनन्द के बाजे बज रहे हैं तो कहीं पर शोक व विलाप के करुण स्वर सुनाई दे रहे हैं।

कहीं सुख का महासागर है तो कहीं दुःख का महासागर।

देवलोक में देवताओं को तीव्र पुण्य कर्म का उदय है। अतः वे सुख में डूबे हुए हैं, हजारों वर्षों के कालगमन का भी उन्हें पता नहीं चलता है। देवलोक में जन्म के बाद नाटक चलता है, उस एक नाटक में दो-दो हजार वर्ष का दीर्घकाल व्यतीत हो जाता है, फिर भी उन देवताओं को कुछ पता नहीं चलता है।

नरक के जीवों को घोर पाप कर्म का उदय है। इस तीव्र

पापोदय के कारण वे अत्यन्त ही दुःखी हैं। इस भू-लोक पर मनुष्य और तिर्यंचों की जो भयंकर पीड़ाएँ हैं, उनसे अनन्त गुणी पीड़ाएँ नरक के जीव प्रतिक्षण भोग रहे हैं। उनकी पीड़ाओं का वर्णन करना अशक्य है। एक क्षण भर के लिए भी उन जीवों को शान्ति नहीं है।

तिर्यंच जीव भी कहाँ सुखी हैं। वे भी भूख-प्यास और मानवीय अत्याचारों से भयंकर दुःखी होते हैं। तीव्र भूख लगी हो किन्तु उनके भाग्य में भोजन नहीं, तीव्र प्यास लगी हो और उनके भाग्य में पानी नहीं।

इस संसार में कहीं पर निगोद के जीव सतत जन्म-मरण की भयंकर पीड़ा भोग रहे हैं। अपने एक श्वासोच्छ्वास में तो उनका १७ बार जन्म, १७ बार मरण और १८वीं बार जन्म हो जाता है। एक दो घड़ी के काल में निगोद के जीव के ६५५३६ भव हो जाते हैं।

निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा के कारण उन जीवों की स्थिति कितनी दयनीय है? और बेचारे! वे अव्यवहारराशि के जीव! अनादिकाल से वे निगोद की भयंकर पीड़ा को ही सहन कर रहे हैं, इतनी पीड़ा सहने के बाद भी उनका तनिक विकास नहीं! ....और वे अभव्य आत्माएँ!!! कभी भी मुक्ति पाने वाली नहीं हैं और न ही उन्हें कभी मुक्ति की अभिलाषा होने वाली है। अतः उनकी भी स्थिति कितनी दयनीय है?

इस प्रकार यह संसार जीवों की विचित्र अवस्थाओं से अति दारुण ही है।

□

बहुपरिचितमनन्तशो ,
निखिलैरपि सत्त्वैः ।
जन्ममरणपरिवर्तिभिः ,
कृतमुक्तममत्वैः ॥ विनय० ॥ १५४ ॥

अर्थ—जन्म-मरण के चक्र में अनन्त बार भ्रमण करने वाले ममता से युक्त जीवों द्वारा यह (लोक) अत्यन्त परिचित है ॥ १५४ ॥

विवेचन

जीव और जगत् का सम्बन्ध

जैनदर्शन के अनुसार यह संसार अनादि है, इस संसार में जीव अनादि से है, जीव और कर्म का संयोग अनादि से है, मोक्ष अनादि है, मोक्ष का मार्ग अनादि है।

अनादि के साथ-साथ यह संसार अनन्त भी है। इसका न कोई प्रारम्भ है और न कोई अन्त।

अपनी आत्मा भी इस संसार में अनादिकाल से है। अनादि-काल से ही अपनी आत्मा के साथ कर्म का संयोग है। कर्म-संयोग के कारण ही आत्मा का परिभ्रमण चल रहा है।

इस संसार से हम (हमारी आत्मा) अति परिचित हैं। इस संसार में ऐसा एक भी आकाशप्रदेश नहीं है, जिसका स्पर्श कर हमारी आत्मा ने जन्म और मरण नहीं किया हो। ऐसी एक भी योनि अथवा स्थान नहीं है, जहाँ हमारा जन्म-मरण नहीं हुआ हो।

ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसके साथ हमारी आत्मा ने कोई सांसारिक सम्बन्ध नहीं किया हो, अर्थात् हर आत्मा के साथ हमारा हर तरह का सम्बन्ध हुआ है।

इस संसार में ऐसा कोई पुद्गल-परमाणु नहीं है, जिसका हमारी आत्मा ने उपभोग नहीं किया हो। अनेक बार देवलोक के दिव्य सुखों का भी अनुभव किया है, फिर भी हम उन सुखों से तृप्त कहाँ हैं ?

समुद्र के खारे पानी को पीने से जैसे तृषा कभी शान्त नहीं होती है, बल्कि अधिक ही तीव्र बनती है, उसी प्रकार संसार के सुखों को भोगने पर भी आत्मा कभी तृप्त नहीं बनती है, बल्कि अधिकाधिक पाने की लालसा बढ़ती ही जाती है।

आत्मा के इस संसार-परिभ्रमण का एकमात्र कारण है—ममत्व। पंचसूत्र में भी कहा है—**'ममत्तं बंधकारणम्'**। ममत्व ही कर्मबन्ध का हेतु है। ममत्व से कर्म का बन्ध होता है और कर्मबन्ध से आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से ग्रस्त बनती है। □

इह पर्यटनपराङ्मुखाः ,
प्रणमत भगवन्तम्।
शान्तसुधारसपानतो ,
धृतविनयमवन्तम् ।। विनय० ।। १५५ ।।

अर्थ—इस लोकाकाश में पर्यटन करने से श्रान्त बनी हे भव्यात्माओ ! आप विनय से युक्त बनकर शान्त सुधारस का पान कर शरणदाता प्रभु को प्रणाम करो ।। १५५ ।।

विवेचन

परमात्मा ही शरण्य है

हे भव्यात्माओ ! इस संसार के परिभ्रमण से यदि आप कंटाल गए हों, यदि यह संसार-भ्रमण आपको खेद रूप लगता हो और आप इस भवबन्धन से मुक्त होना चाहते हों तो हृदय में विनयगुण धारण कर और शान्त सुधारस का पान कर जिनेश्वर-देव को प्रणाम करो ।

आत्मविकास के लिए सर्वप्रथम विनयगुण अनिवार्य है । विनय सर्वगुणों का मूल है ।

'प्रशमरति' ग्रन्थ में पूज्य उमास्वाति म. ने कहा है—

"तस्मात् कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ।"....इस कारण समस्त कल्याणों का भाजन विनय है ।

अन्यत्र भी कहा है—**'विनयमूलो धम्मो'** धर्म का मूल विनय है । जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष का अस्तित्व टिक नहीं सकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म का अस्तित्व रहना असम्भव है ।

विनय सर्व गुणों को खींचने का लौह-चुम्बक है । इस गुण को आत्मसात् करने वाली आत्मा अल्प समय में अपना विकास कर लेती है ।

पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि हृदय में विनय गुण धारण करने के बाद शान्त सुधारस (अमृतरस) का पान करो ।

शान्त सुधारस अर्थात् अपनी आत्मा को कषायाग्नि से मुक्त कर प्रशमरस में निमग्न होना। कषायों की आग शान्त हुए बिना आत्मा शान्त नहीं बन सकती है और शान्त हुए बिना आत्म-गुणों का विकास सम्भव नहीं है।

अनादिकाल के कुसंस्कारों के कारण आत्मा में क्रोधादि कषायों की आग रही हुई है, प्रशमरस के निरन्तर अभ्यास से ही उस आग को शान्त किया जा सकता है।

विनयवन्त और शान्तात्मा ही परमात्म-चरणों में अपना समर्पण कर सकती है।

जब तक हृदय में क्रोध और मान कषाय की प्रबलता रहेगी तब तक आत्मा प्रभु-चरणों में समर्पण नहीं कर सकेगी।

भव-बन्धन से मुक्त बनने के लिए भव-बन्धन से मुक्त परमात्मा के प्रति समर्पण अनिवार्य है।

परमात्मा राग-द्वेष के विजेता हैं और दूसरे को राग-द्वेष के विजेता बनाने वाले हैं। परमात्मा इस संसार-सागर से तीर्ण (तैर चुके) हैं और दूसरों को संसार-सागर से तिराने वाले हैं।

संसार के इस भीषण अन्धकार में एकमात्र परमेष्ठि-नमस्कार ही एक ऐसा प्रकाश किरण है, जिसे प्राप्त कर आत्मा अपने कल्याण-मार्ग को पा सकती है।

12

बोधिदुर्लभ भावना

यस्माद् विस्मापयितसुमनः स्वर्गसम्पद्विलासाः,
प्राप्तोल्लासाः पुनरपि जनिः सत्कुले भूरिभोगे।
ब्रह्माद्वैत - प्रगुणपदवीप्रापकं निःसपत्नं,
तद्दुष्प्रापं भृशमुरुधियः सेव्यतां बोधिरत्नम् ॥१५६॥
(मंदाक्रान्ता)

अर्थ—हे सूक्ष्मबुद्धिमान् पुरुषो ! जिस सम्यक्त्व के प्रभाव से देवताओं को भी आश्चर्य हो, ऐसी स्वर्ग सम्पदा का विलास प्राप्त होता है और उस स्वर्ग सम्पत्ति की प्राप्ति से उल्लसित बने प्राणी पुनः विशाल भोगकुल में जन्म पाते हैं, ऐसे असाधारण और परम पद को देने वाले बोधिरत्न की सेवा करो ॥१५६॥

विवेचन

सम्यग् दर्शन की महत्ता

अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन्तों ने भव्य जीवों के हित के लिए मोक्षमार्ग की देशना दी है। वह मोक्षमार्ग 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र' स्वरूप है। इसे रत्नत्रयी भी कहते हैं।

ज्ञान और चारित्र का मूल भी सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व ही है। ज्ञान और चारित्र को सम्यग् बनाने वाला सम्यग्-दर्शन ही है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र का अस्तित्व नहीं रहता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान हो जाता है और चारित्र भी मात्र कायकष्ट गिना जाता है।

अभव्य की आत्मा ९½ पूर्व तक का अभ्यास कर ले और मक्खी की पाँख को भी पीड़ा न पहुँचे, ऐसे चारित्र का पालन करे, फिर भी उस आत्मा का कल्याण नहीं होता है। ज्ञानियों ने उसके ९½ पूर्व के ज्ञान को भी अज्ञान ही माना है और उसके चारित्र को भी संसारवर्द्धक ही कहा है।

ज्ञान और चारित्र तभी तारक बनते हैं, जब उनके साथ सम्यग्दर्शन जुड़ा हुआ हो।

मोक्षमार्ग में विकास की सर्वप्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन ही है।

बोधिरत्न यह सम्यग्दर्शन-सम्यक्त्व का ही पर्यायवाची नाम है।

इस अनादि अनन्त संसार में जीवात्मा को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है।

यह बोधिदुर्लभ भावना हमें सम्यक्त्व की दुर्लभता समझाती है।

भगवान महावीर परमात्मा ने कहा है—इस संसार में जीवात्मा को चार वस्तुएँ अत्यन्त ही दुर्लभ हैं—(१) मनुष्यत्व (२) धर्मश्रवण (३) धर्मश्रद्धा और (४) संयम।

इस विराट् संसार में अनन्तानन्त आत्माएँ हैं। यह सम्पूर्ण विश्व सूक्ष्म निगोद के जीवों से ठसाठस भरा हुआ है। इस चौदह राजलोक में निगोद के असंख्य गोले हैं। एक गोले में असंख्य निगोद हैं और एक निगोद में अनन्त-अनन्त जीव रहे हुए हैं।

चारों गतियों में सबसे कम जीव मनुष्य गति में है। मनुष्यों की संख्या नियत है और उसकी गणना की जा सकती है। मनुष्य से कई गुने नारकी हैं। नारकी असंख्य हैं। नारक से भी देवों की संख्या अधिक है और देवों से भी तिर्यंचों की संख्या अनन्त गुनी है।

असंख्य सम्यग्दृष्टि देव मनुष्य भव पाने के लिए लालायित हैं।

सम्यग्दृष्टि देव और नारकी यदि सम्यक्त्व अवस्था में उनके आयुष्य का बन्ध हो तो मरकर मनुष्य ही बनते हैं।

मनुष्य भव पाने की इच्छा वाले बहुत हैं और उसकी संख्या नियत है।

ज्ञानियों ने मनुष्य-जीवन की प्राप्ति को अत्यन्त ही दुर्लभ कहा है। दश-दृष्टान्तों के द्वारा उसकी दुर्लभता का वर्णन किया है। दुनिया की अन्य सब सामग्री मिलना सुलभ है, किन्तु मनुष्यभव की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

मनुष्य-जीवन की प्राप्ति के बाद भी जिनेश्वरदेव के धर्म के श्रवण का अवसर मिलना भी अत्यन्त दुर्लभ है।

धर्म के श्रवण बिना उस धर्म की श्रद्धा या उस पर आचरण कैसे सम्भव है ?

महान् पुण्य का उदय होने पर ही जिन-धर्म के श्रवण का अवसर मिल सकता है और जिनधर्म के श्रवण के बाद उस पर श्रद्धा होना, उससे भी दुष्कर है। जिनधर्म का श्रवण होने के बाद भी जब तक मोहनीय कर्म का क्षय-उपशम न हो जाय, तब तक उस धर्म की श्रद्धा होना शक्य नहीं है।

जब तक आत्मा पर लगी हुई कर्म-स्थिति का ह्रास नहीं हो जाता है, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आत्मा तीन करण करती है—(१) यथाप्रवृत्तिकरण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्ति-करण।

(१) **यथाप्रवृत्तिकरण**—जब आत्मा किसी भी प्रकार के कर्म का बन्ध करती है तो उसके साथ ही उस कर्म की स्थिति का भी बन्ध करती है।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम है।

जब आत्मा अपने प्रयत्नविशेष से शुभ अध्यवसायों के द्वारा मोहनीय आदि कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को घटाकर उन कर्मों की

स्थिति अन्तःकोटाकोटी सागरोपम की कर देती है, तब आत्मा 'यथाप्रवृत्तिकरण' करती है।

यह यथाप्रवृत्तिकरण भी आत्मा अनेक बार करती है। कर्मों की स्थिति में ह्रास करने की यह प्रक्रिया अभव्य की आत्मा भी कर देती है, परन्तु इतने मात्र से वह आत्मा सम्यग्दर्शन का स्पर्श नहीं कर पाती है।

यथाप्रवृत्तिकरण के बाद जब आत्मा अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करती है, तभी वह आत्मा सम्यग्दर्शन प्राप्त करती है, उसके पूर्व नहीं।

२. **अपूर्वकरण**—सम्यक्त्व की प्राप्ति के अभिमुख बनी हुई आत्मा अपने चरम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद अवश्य ही अपूर्वकरण करती है। इस अपूर्वकरण में प्रतिसमय आत्मविशुद्धि बढ़ती जाती है। इस अपूर्वकरण में जीवात्मा ऐसी चार विशिष्ट क्रियाएँ करती हैं, जो उसने पूर्व में कभी नहीं की है।

अपूर्वकरण में आत्मा स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और अपूर्वस्थितिबन्ध करती है।

३. **अनिवृत्तिकरण**—अपूर्वकरण के बाद आत्मा 'अनिवृत्तिकरण' करती है। इस अनिवृत्तिकरण में प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और अपूर्वस्थितिबन्ध की सूक्ष्म-क्रियाएँ होती हैं। इसके साथ ही आत्मा इसमें 'अन्तरकरण' करती है। इस 'अन्तरकरण' में मिथ्यात्व का उदय रुक जाता है और आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है।

सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होने पर आत्मा में प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि पाँच गुण प्रकट होते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद आत्मा का भव-परिभ्रमण मर्यादित हो जाता है वह आत्मा अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल-परावर्त काल के अन्दर अवश्य मुक्ति प्राप्त करती है।

भवसागर में इस बोधिरत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। इस सम्यक्त्व की उपस्थिति में जीवात्मा की दुर्गति रुक जाती है। इसके प्रभाव से जीवात्मा को वैमानिक व अनुत्तर विमान के दिव्य सुखों की प्राप्ति होती है और मनुष्य के रूप में भी उत्तम जाति व उत्तम कुल की ही प्राप्ति होती है।

हे भव्यात्माओ ! ऐसे निर्मल बोधिरत्न की प्राप्ति के लिए आप प्रयत्न करो। □

अनादौ निगोदान्धकूपे स्थितानां-
मजस्रं जनुर्मृत्युदुःखार्दितानाम्।
परीणामशुद्धिः कुतस्तादृशी स्याद्,
यया हन्त तस्माद् विनिर्यान्ति जीवाः ॥१५७॥
(भुजंगप्रयातम्)

ततो निर्गतानामपि स्थावरत्वात्,
त्रसत्वं पुनर्दुर्लभं देहभाजाम्।
त्रसत्वेऽपि पञ्चाक्षपर्याप्तसंज्ञि-
स्थिरायुष्यवद् दुर्लभं मानुषत्वम् ॥१५८॥
(भुजंगप्रयातम्)

तदेतन्मनुष्यत्वमाप्यापि मूढो ,
महामोहमिथ्यात्वमायोपगूढः ।
भ्रमन् दूरमग्नो भवागाधगर्ते ,
पुनः क्व प्रपद्येत तद्बोधिरत्नम् ? ।।१५९।।
(भुजंगप्रयातम्)

अर्थ—अनादिकाल से निगोद रूपी अन्ध कूप में रहने वाले और जन्म-मरण के दुःख से सतत, सन्तप्त जीवों को उस परिणाम की शुद्धि कहाँ से हो, जिससे वे निगोद के अन्ध कूप से बाहर निकल सकें ।। १५७ ।।

अर्थ—निगोद में से निकले हुए जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त करते हैं, क्योंकि प्राणी को त्रसत्व की प्राप्ति तो अत्यन्त दुर्लभ है उस त्रसत्व की प्राप्ति के बाद भी पञ्चेन्द्रिय अवस्था, संज्ञित्व, दीर्घ आयुष्य तथा मनुष्यत्व की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ।। १५८ ।।

अर्थ—मनुष्य अवस्था पाने के बाद भी महामोह मिथ्यात्व और माया से व्याप्त मूढ़ प्राणी संसार रूपी महागर्त में पड़ा हुआ, ऐसा निमग्न हो जाता है कि उसे बोधिरत्न की प्राप्ति भी कहाँ से हो ।। १५९ ।।

विवेचन

सम्यग्दर्शन की दुर्लभता

तीन गाथाओं के द्वारा पूज्य उपाध्यायजी म. बोधिरत्न की प्राप्ति की दुर्लभता बतलाते हैं ।

संसार के समस्त जीवों को एक अपेक्षा से दो भागों में बाँट सकते हैं—

(१) अव्यवहारराशि के जीव। (२) व्यवहारराशि के जीव।

जो जीव अनादिकाल से सूक्ष्मनिगोद में ही रहे हुए हैं और एक बार भी बादरनिगोद आदि की अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे जीव अव्यवहारराशि के कहलाते हैं।

जो जीव सूक्ष्मनिगोद से निकल कर बादरनिगोद आदि अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं, वे जीव व्यवहारराशि के कहलाते हैं।

अव्यवहारराशि में अनन्तानन्त आत्माएँ रही हुई हैं, जो वहीं जन्म-मरण करती रहती हैं।

जब तक आत्मा की भवितव्यता का परिपाक न हो, तब तक आत्मा अव्यवहारराशि से व्यवहारराशि में नहीं आती है।

व्यवहारराशि में आने के बाद आत्मा का विकास हो ही, ऐसी अनिवार्यता नहीं है। व्यवहारराशि में आने के बाद भी आत्मा के विकास में अनेक बाधाएँ हैं। वह बादरनिगोद में भी अनन्तकाल तक रह सकती है।

निगोद अवस्था में आत्मविशुद्धि के लिए अवकाश कहाँ है? वहाँ सकाम-निर्जरा के लिए अवकाश नहीं है, अतः उस आत्मा के विकास की कोई विशेष सम्भावनाएँ नहीं हैं। निगोद के जीवों को मात्र अकाम-निर्जरा होती है।

निगोद के जीव निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं, अतः उन जीवों के आत्म-परिणामों की विशुद्धि कहाँ से हो सकती है ?

सूक्ष्मनिगोद से निकलने के बाद आत्मा बादरनिगोदावस्था को प्राप्त करती है और वहाँ से निकलने के बाद बादर पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय आदि अवस्था को प्राप्त करती है।

पृथ्वीकाय आदि जीवों की भी उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल की है, अर्थात् इतने काल वे जीव उसी योनि (काय) में जन्म-मरण करते हैं।

स्थावर पृथ्वीकाय के जीव भयंकर सर्दी-गर्मी आदि को सहन कर अकामनिर्जरा करते हैं, इस प्रकार निरन्तर वेदना को सहन करने के फलस्वरूप जीवात्मा त्रसपने को प्राप्त होती है अर्थात् आत्मा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय आदि अवस्था को प्राप्त करती है।

त्रसपने में भी जीवात्मा को पंचेन्द्रिय अवस्था की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। ज्यों-ज्यों जीवात्मा के बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय आदि अवस्था में इन्द्रियों की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों उसमें पाप करने की शक्ति भी बढ़ती जाती है।

हिंसा, झूठ आदि पापों का प्रारम्भ आगे-आगे की अवस्थाओं में ही होता है। कदाचित् पुण्ययोग में पंचेन्द्रिय अवस्था मिल भी जाय, फिर भी उसमें मनुष्यत्व की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है। पंचेन्द्रिय तो गाय, भैंस, बिल्ली, कुत्ता, सिंह, व्याघ्र आदि भी हैं। उस प्रकार का जन्म मिलने पर तो जीवात्मा

अधिकाधिक पाप ही करती है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन हिंसादि पापों पर ही निर्भर है।

कदाचित् पुण्ययोग से मनुष्य का जीवन भी मिल जाय, परन्तु यदि पर्याप्तावस्था पंचेन्द्रिय-पटुता तथा दीर्घ आयुष्य न मिले तो भी जीवात्मा के लिए आत्म-विकास करना कठिन हो जाता है।

कदाचित् मनुष्य-जीवन में दीर्घ आयुष्य भी मिल जाय परन्तु जिनधर्म की प्राप्ति न हो तो पुनः सब कुछ बेकार हो जाता है और आत्म-विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता है।

पंचेन्द्रिय-पटुता और दीर्घ आयुष्य के साथ यदि तीव्र मिथ्यात्व का उदय हो तो जीवन में पाप की प्रवृत्ति अधिक तीव्र बन जाती है। शिकार, मांसाहार, शराब, जुआ, चोरी, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन जैसे भयंकर पाप मनुष्य ही तो करता है।

मिथ्यात्व के तीव्र उदय में सद्धर्म आचरण की न तो प्रेरणा मिलती है और न ही उसे स्वीकार करने की इच्छा होती है।

इस प्रकार मनुष्य-जीवन तक की अवस्था पाने के बाद भी महामोह से मूढ़ बनी आत्मा पुनः अपने विराट् संसार का सर्जन कर लेती है।

कुछ संयोगवश द्रव्यचारित्र मिल जाय, परन्तु यदि आत्मा पर से मोह का साम्राज्य नहीं हटा हो तो भी आत्मा पुनः अपने भावी अनन्त संसार का ही सर्जन करती है। □

विभिन्नाः पन्थानः प्रतिपदमनल्पाश्च मतिनः ,
कुयुक्तिव्यासङ्गैर्निजनिजमतोल्लासरसिकाः ।
न देवाः सान्निध्यं विदधति न वा कोऽप्यतिशय-
स्तदेवं कालेऽस्मिन् य इह दृढधर्मा स सुकृती ।।१६०।।
(शिखरिणी)

अर्थ—इस काल में जहाँ स्थान-स्थान पर विविध मत वाले पंथ हैं, कदम-कदम पर कुयुक्ति के अभ्यास से स्वमत को विकसित करने में रसिक अनेक मतवादी हैं, देवता भी सहाय नहीं कर रहे हैं तथा न कोई अतिशय लब्धि-सम्पन्न व्यक्ति नजर आ रहा है, ऐसे समय में वीतराग धर्म में दृढ़ता रखने वाला ही सच्चा पुण्यात्मा है ।। १६० ।।

विवेचन

धर्म में दृढ़ता कठिन कार्य है

पूज्यपाद उपाध्यायजी म. वर्तमानकालीन परिस्थितियों का वर्णन करते हुए बोधि के रक्षण की कठिनाइयों को बतलाते हुए फरमाते हैं कि इस समय धर्म के नाम पर अनेकविध पंथ और सम्प्रदाय चल रहे हैं ।

एक-एक नय के एकांगी दृष्टिकोण में पूर्णता की कल्पना कर अनेकविध नये पंथ चल पड़े हैं । उन एकांगी दृष्टि वालों का इतना अधिक तांता लग गया है कि बालजीवों के लिए सत्य की परीक्षा करना अत्यन्त कठिन हो गया है । कोई मात्र ज्ञान से मुक्ति की बात करता है तो कोई मात्र ध्यान से ।

एकान्त निश्चयनय के एकांगी दृष्टिकोण को पकड़कर एकमात्र ध्यान से मुक्ति की बातें करने वाले भी अनेक पन्थ निकल पड़े हैं। एकान्त निश्चयनय की पुष्टि करने के साथ-साथ वे व्यवहारनय का खण्डन भी करते हैं और दान, शील तथा तप आदि बाह्य धर्मों की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार एकान्त निश्चयनय की देशना से बालजीव धर्म से च्युत हो जाते हैं और उनकी स्थिति 'न घर की न घाट की' हो जाती है।

कोई स्थापना निक्षेप का उत्थापन कर रहे हैं तो कोई दया-दान में हिंसा की बातें करते हैं। इतना ही नहीं, अपने मत की पुष्टि के लिए आगम के अर्थ को तोड़-मरोड़ करके भी अपने मत को पुष्ट करना चाहते हैं।

अपने मत को असत्य जानते हुए भी केवल निजी स्वार्थ के लिए वे लोग कुयुक्तियों का आश्रय लेते हैं और किसी भी प्रकार से अपने मत की पुष्टि करना चाहते हैं।

दुनिया में 'युक्ति' से भी 'कुयुक्ति' का बोलबाला अधिक है, अधिकांशतः कुमतों का प्रचार व प्रसार कुयुक्तियों के बल पर ही चलता है।

कई बार इन कुतर्कों के जाल में फँसकर व्यक्ति सद्धर्म से भी च्युत हो जाता है।

इसके साथ ही इस काल में धर्मतीर्थ के अधिष्ठायक देवताओं का भी प्रायः सान्निध्य प्राप्त नहीं है। पृथ्वी पर देवताओं का आगमन लगभग नहींवत् हो गया है, इस कारण भी सद्धर्म की रक्षा करना अत्यन्त कठिन हो गया है।

विभिन्न पंथ, कुयुक्तियों का जोर तथा देवों का नहीं आना आदि-आदि बातें सद्धर्मप्रेमी के लिए चुनौती रूप हैं।

वर्तमानकाल में भौतिकवाद की भी आंधी इतनी जोर से चल रही है कि उसमें मुमुक्षु आत्मा को अपनी साधना में स्थिर रहना अत्यन्त कठिन हो गया है।

दिन-प्रतिदिन विज्ञान की नई-नई गवेषणाएँ, ऐशो-आराम और भोग-विलास के नये-नये साधन व्यक्ति को सद्धर्म से च्युत कर देते हैं।

सद्धर्म के रक्षण के लिए चारों ओर संकट हैं, ऐसी परिस्थिति में भी जो व्यक्ति सद्धर्म में स्थिर है और वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग की साधना में प्रयत्नशील है, वह व्यक्ति वास्तव में भाग्यशाली है।

अनुकूलताओं में धर्म करना तो सरल है, परन्तु अनेकविध प्रतिकूलताओं के बीच भी आत्म-स्वभाव में स्थिर बने रहना अत्यन्त ही कठिन कार्य है। □

यावद् देहमिदं गदैर्न मृदितं, नो वा जरा जर्जरं,
यावत्त्वक्षकदम्बकं स्वविषयज्ञानावगाहक्षमम्।
यावच्चायुरभङ्गुरं निजहिते तावद्बुधैर्यत्यतां,
कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते ॥१६१॥

(शार्दूलविक्रीडितम्)

अर्थ—जब तक यह देह रोग-ग्रस्त नहीं हुआ है, जब तक यह देह जरा से जर्जरित नहीं बना है, जब तक इन्द्रियाँ स्व-स्व

विषय सम्बन्धी ज्ञान को ग्रहण करने में समर्थ हैं तथा जब तक आयुष्य रहा हुआ है, तब तक सुज्ञजनों को आत्महित में उद्यम कर लेना चाहिये, फिर सरोवर के टूट जाने के बाद दीवार बाँधने से क्या फायदा है ? ।। १६१ ।।

विवेचन

आत्म-हित के लिए प्रमाद छोड़ें

सद्धर्म-साधना की सामग्री मिल जाने के बाद भी शारीरिक रोग, जरावस्था, इन्द्रियों की क्षीणता तथा मृत्यु आदि व्यक्ति को साधना से भ्रष्ट कर देते हैं। अतः पूज्य उपाध्यायजी म. मैत्री-सभर हृदय से प्रेम भरी सलाह देते हुए फरमाते हैं कि हे भव्य आत्मन् ! जब तक तेरा देह स्वस्थ है, तब तक तू धर्म का आचरण कर ले। क्योंकि नीरोग अवस्था में ही कायिक धर्म का आचरण सम्भव है, जब तेरी काया किसी रोग से ग्रस्त हो जाएगी, उसके बाद तू धर्म का आचरण कैसे कर सकेगा ?

तप, त्याग और विरतिधर्म की साधना के लिए स्वस्थ देह की आवश्यकता रहती है, अतः यदि तू स्वस्थ है तो प्रमाद का त्याग कर और सद्धर्म की साधना के लिए प्रयत्नशील बन, क्योंकि किस समय यह देह रोगग्रस्त हो जाएगा, कुछ कह नहीं सकते हैं। अतः देह की स्वस्थता का गुमान न कर और उस देह के द्वारा जिनाज्ञा के पालन में प्रयत्नशील बन। इसी में तेरा सच्चा हित रहा हुआ है।

हे युवा ! तू प्रमाद का त्याग कर, सद्धर्म के आचरण में प्रयत्नशील बन जा। क्योंकि यह यौवन तो 'चार दिन की चांदनी' की तरह अस्थायी है।

जिस प्रकार नदी का जल सतत समुद्र की ओर बह रहा है, उसी प्रकार हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण हमें जरावस्था और मृत्यु के समीप ले जा रहा है। अतः जब तक यौवनवय है, तब तक धर्म का आचरण कर ले।

वृद्धावस्था में शरीर जीर्ण हो जाएगा, आँखों की ज्योति मन्द हो जाएगी, पैर लड़खड़ाने लगेंगे, हाथ काँपने लगेंगे, सम्पूर्ण शरीर शिथिल हो जाएगा, ऐसी अवस्था में तू धर्म का आचरण कैसे कर सकेगा? अतः अभी से सावधान होकर धर्माचरण में प्रयत्नशील बन जा।

हे प्रौढ़ पुरुष! जब तेरे पाँचों इन्द्रियों की पटुता है, वे अपने-अपने कार्य को करने में सक्षम हैं, तब तक तू धर्म के आचरण में क्रियाशील बन जा।

हे बाल मुमुक्षु! तू अपनी वय को लघु मानकर सद्धर्म के आचरण में प्रमाद मत कर। क्योंकि मृत्यु बाल, युवान और वृद्ध का भेद नहीं करती है, वह तो किसी समय, किसी को भी अपने शिकंजे में कस लेती है। अतः अपने जीवन की क्षणभंगुरता को समझकर धर्मकार्य में उद्यमशील बन जा। सच्चा बुद्धिमान् वही है जो प्राप्त अवसर का लाभ उठा लेता है।

तालाब फूट जाने के बाद उसके जल को रोकने के लिए क्या दीवार बनाई जा सकती है?

फिर तो 'अब पछताए होत क्या, जब चिड़िया चुग गई खेत।'

सद्धर्म आचरण की शक्ति होते हुए भी यदि तू सावधान

नहीं बनेगा तो अन्त में तुझे पछताना ही पड़ेगा और इस प्रकार पछताने से भी कुछ फायदा नहीं हो सकेगा। □

विविधोपद्रवं देहमायुश्च क्षणभङ्गुरम् ।
कामालम्ब्य धृतिं मूढैः स्वश्रेयसि विलम्ब्यते ।।१६२।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ—यह देह रोगादि उपद्रवों से भरा हुआ है, आयुष्य क्षणभंगुर है, तो फिर किस वस्तु का आलम्बन लेकर मूढ़ जन अपने आत्म-हित में विलम्ब करते हैं ? ।। १६२ ।।

विवेचन

आत्म-हित में विलम्ब मत करो

जो आत्माएँ बेपरवाह बनकर सद्धर्म की उपेक्षा कर रही हैं, उन आत्माओं के प्रति हृदय में दया रखकर कुछ कठोर शब्दों में ठपका देते हुए पूज्य उपाध्यायजी फरमाते हैं कि हे मूढ़ आत्मन् ! तू किसके भरोसे रहकर अपनी साधना में विलम्ब कर रहा है ?

जरा, विचार तो कर। तेरा देह अनेक प्रकार के रोगों, उपद्रवों से भरा हुआ है, किस समय कौन-सा रोग तुझ पर हमला कर देगा, कुछ कह नहीं सकते हैं।

इसके साथ ही तेरा आयुष्य भी तो क्षणभंगुर है। जल में उत्पन्न हुए बुलबुले की भाँति तेरे इस जीवन का कोई भरोसा नहीं है। तेरा आयुष्य भी सोपघाती है; किसी भी समय, किसी भी दुर्घटना से तेरे जीवन का अन्त आ सकता है। □

द्वादशभावनाऽष्टकम्

बुध्यतां बुध्यतां बोधिरतिदुर्लभा ,
जलधिजलपतितसुररत्नयुक्त्या ।
सम्यगाराध्यतां स्वहितमिह साध्यतां ,
बाध्यतामधरगतिरात्मशक्त्या, बुध्य० ।। १६३ ।।

अर्थ—समुद्र में गिर पड़े चिन्तामणि रत्न के दृष्टान्त से बोधि की अत्यन्त दुर्लभता को समझो। बोधिरत्न की दुर्लभता को समझकर उसका सम्यग् आराधन करो, आत्महित साधो और अपनी आत्म-शक्ति से दुर्गति को रोक दो ।। १६३ ।।

विवेचन

बोधि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है

किसी ब्राह्मण के मन में चिन्तामणि-रत्न पाने की इच्छा पैदा हुई। इस हेतु वह अपने घर से निकल पड़ा, समुद्रयात्रा पूर्ण कर वह अन्य द्वीप पर पहुँचा। उस द्वीप में एक यक्ष की मूर्ति थी, उसने उपवास के तप के साथ यक्ष की साधना प्रारम्भ कर दी।

उसने निरन्तर इक्कीस उपवास किए। यक्ष प्रसन्न हो

गया और उसने ब्राह्मण को 'चिन्तामणि-रत्न' दे दिया। चिन्तामणि रत्न पाकर ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हो गया। वह एक जहाज में बैठ गया और उसकी यात्रा प्रारम्भ हुई।

उसने पूर्णिमा के दिन यात्रा प्रारम्भ की थी। सूर्यास्त के साथ ही आकाश में चन्द्रमा का उदय हुआ। चन्द्रमा का विशाल मण्डल भूमितल को प्रकाशित करने लगा।

उस ब्राह्मण ने भी चन्द्रमा की तेजस्विता देखी। जहाज के एक किनारे बैठकर अपने हाथ में चिन्तामणि रत्न लेकर वह सोचने लगा—"मेरा रत्न अधिक प्रकाशमान है या यह चन्द्रमा?" दोनों के प्रकाश की तुलना में वह कभी चन्द्रमा की ओर देखता तो कभी रत्न की ओर। बस, इस प्रकार के विचार-विमर्श में अचानक ही वह चिन्तामणि रत्न समुद्र में गिर पड़ा। अति कठिनाई से प्राप्त चिन्तामणि रत्न एक क्षण में खो गया।

इस दृष्टान्त से पूज्य उपाध्याय श्री विनय विजयजी म. हमें बोधि की दुर्लभता समझाते हुए फरमाते हैं कि हे भव्यात्माओ! बोधि की दुर्लभता को समझकर उसे पाने के लिए प्रयत्नशील बनो। बोधि के आराधन से ही आत्म-हित साधा जा सकता है। बोधि की प्राप्ति बिना आत्म-हित की सिद्धि सम्भव नहीं है।

बोधि की प्राप्ति होने पर आत्मा की दुर्गति भी रुक जाती है। सम्यक्त्व अवस्था में आयुष्य का बन्ध हो तो आत्मा की अवश्य सद्गति होती है। □

चक्रिभोज्यादिरिव नरभवो दुर्लभो ,
भ्राम्यतां घोरसंसारकक्षे ।
बहुनिगोदादिकायस्थितिव्यायते ,
मोहमिथ्यात्वमुखचोरलक्षे, बध्य० ।। १६४ ।।

अर्थ—निगोद आदि की दीर्घकाल स्थिति तथा मोह और मिथ्यात्व आदि लाखों चोरों से व्याप्त इस भयंकर संसार-कक्ष में चक्रवर्ती के भोजन के दृष्टान्त से मनुष्य–भव की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है ।। १६४ ।।

विवेचन

मनुष्यभव दुर्लभ है

इस विराट् संसार में आत्मा को नर-भव की प्राप्ति अत्यन्त ही दुर्लभ है । साधारण वनस्पतिकाय/निगोद के जीवों की कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल प्रमाण है । एक बार आत्मा निगोद में चली जाय तो फिर उसे ऊँचे उठने के लिए प्रायः कोई अवकाश ही नहीं रहता है । सूक्ष्म पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय की कायस्थिति असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल प्रमाण है, अतः उस स्थिति में से ऊपर उठने के लिए जीवात्मा को कोई साधन-सामग्री ही उपलब्ध नहीं होती है ।

चक्रवर्ती के घर भोजन की तरह मनुष्य-जन्म की प्राप्ति दुर्लभ है ।

एक बार एक चक्रवर्ती एक ब्राह्मण पर प्रसन्न हो गए और ब्राह्मण को अपनी इच्छानुसार वर मांगने के लिए कहा। उस ब्राह्मण ने कहा—"मुझे प्रतिदिन एक घर पर भोजन और दक्षिणा में एक सोना मोहर मिल जाय तो मुझे प्रसन्नता होगी।"

चक्रवर्ती ने ब्राह्मण की मांग स्वीकार कर ली।

उस नगर में लाखों लोगों की बस्ती थी।

पहले दिन उसने चक्रवर्ती के घर भोजन किया और उसे दक्षिणा में एक सोना मोहर मिली। उसके बाद उसने दूसरे घर भोजन किया और उसे एक सोना मोहर मिली। इतने बड़े विशाल नगर में क्या चक्रवर्ती के घर दूसरी बार भोजन की बारी आ सकती है? नहीं। बस, इसी प्रकार से इस विराट् संसार में एक बार मनुष्य जीवन पाने के बाद पुनः मनुष्यजीवन की प्राप्ति होना अत्यन्त ही दुर्लभ है।

इसके साथ ही इस संसार में मोह और मिथ्यात्व रूपी चोर भी घूम रहे हैं, जो आत्म-धन को लूट लेते हैं। □

लब्ध इह नरभवोऽनार्यदेशेषु यः,
स भवति प्रत्युतानर्थकारी।
जीवहिंसादिपापास्रवव्यसनिनां,
माघवत्यादिमार्गानुसारी, बुध्य०॥ १६५॥

अर्थ—उसके बाद मनुष्य का जन्म भी यदि अनार्य देश में हो जाय तो वह ज्यादा अनर्थकारी बन जाता है, क्योंकि वहाँ जीवहिंसा आदि पापों के आस्रव में लगे रहने से वह जन्म

माघवती (सातवीं नरक भूमि) के मार्ग में ले जाने वाला है ।। १६५ ।।

विवेचन

अनार्यदेश में मनुष्य-जन्म भी अहितकर बन सकता है

कदाचित् कुछ पुण्योदय से मनुष्य का जन्म भी मिल जाय, परन्तु आर्य देश न मिले तो ?....पुनः आत्मा अधोगति की ही प्रवृत्ति करती है। आज अनार्यदेश के मनुष्यों की क्या स्थिति है ? हिंसा, झूठ, चोरी, हत्या, व्यभिचार, बलात्कार व अपहरण आदि का वहाँ बोलबाला है।

भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने पर भी आध्यात्मिक गुण-समृद्धि की अपेक्षा वे दरिद्र ही हैं।

वहाँ न अहिंसा का प्रेम है और न ही सदाचार का। 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' के सिद्धांतानुसार ही उनका जीवन होता है।

वहाँ पर उन्हें आत्मा, पुण्य-पाप व परलोक/मोक्ष की शिक्षा देने वाला कौन है ?

जन्म से ही जहाँ मांसाहार चल रहा है, वहाँ जीवदया के संस्कार कहाँ से मिलेंगे ?

भोग, वैभव और विलासिता में ही यौवन की सफलता मानने वाले ब्रह्मचर्य और शील के महत्त्व को कैसे समझ सकेंगे ?

भारत की यह पवित्र आर्यभूमि ! जहाँ की सन्नारियों ने अपने शील के रक्षण के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं की थी। क्या ऐसी शीलवती सन्नारी का एक भी उदाहरण हमें अनार्य देश में मिल सकेगा ?

कुछ ही दिनों पूर्व एक मासिक पत्र में पढ़ा था—"ब्रिटेन की २/३ युवतियाँ अपने लग्न के पूर्व ही गर्भवती बन जाती हैं।"

उन अनार्यदेशों में शील के रक्षण की व्यवस्था भी कहाँ है ?

इसीलिए पूज्य उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि मनुष्य-जन्म मिलने के बाद भी आर्यदेश प्राप्त न हो और अनार्यदेश में जन्म मिले तो वह मनुष्य का जन्म भी आत्मा की भयंकर अधोगति करा देता है।

जिस जन्म से तरने की सम्भावना है, उसी जन्म को प्राप्त कर आत्मा डूब जाती है। इससे अधिक अफसोस की बात और क्या हो सकती है ? □

आर्यदेशस्पृशामपि सुकुलजन्मनां ,
दुर्लभा विविदिषा धर्मतत्त्वे ।
रतपरिग्रहभयाहारसंज्ञार्तिभि-
र्हन्त ! मग्नं जगद्-दुःस्थितत्वे, बुध्य० ।। १६६ ।।

अर्थ—आर्यदेश में रहने वाले और उत्तम कुल में जन्म लेने के

बाद भी सद्धर्म-श्रवण की इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि मैथुन, परिग्रह, भय और आहार संज्ञा रूप पीड़ा से सम्पूर्ण जगत् अत्यन्त दुर्दशा में डूबा हुआ है ।। १६६ ।।

विवेचन

धर्मतत्त्व की जिज्ञासा भी दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से आर्यदेश और उत्तम कुल भी मिल जाय, फिर भी 'धर्मश्रवण की इच्छा होना' सुलभ कहाँ है ? क्योंकि आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओं के वशीभूत होने के कारण संसारी जीवों की स्थिति अत्यन्त दयनीय है ।

अनादिकाल से संसारी जीव आहार आदि संज्ञाओं से पराधीन है । नरक में भय संज्ञा, देवगति में परिग्रह संज्ञा, मनुष्य में मैथुन संज्ञा और तिर्यंच में आहार संज्ञा की पराधीनता है ।

प्रत्येक जीवात्मा का चारों गति में परिभ्रमण हो रहा है और इस कारण प्रत्येक जीव में चारों संज्ञाओं की प्रबलता है ।

मनुष्य-जन्म, आर्यदेश और उत्तम कुल मिल जाने के बाद भी आहार आदि संज्ञाओं की प्रबलता के कारण व्यक्ति धर्म-श्रवण में उत्सुक नहीं बन पाता है ।

आहार संज्ञा की प्रबलता के कारण व्यक्ति भक्ष्य-अभक्ष्य और पेय-अपेय का विचार नहीं कर पाता है । परिग्रह संज्ञा की प्रबलता के कारण व्यक्ति अन्यान्य उपायों से धनार्जन में व्यस्त रहता है । धन की तीव्र ममता के कारण वह न्याय

और नीति के मार्ग को भी भूल जाता है और येन-केन प्रकारेण धन इकट्ठा करने के लिए मेहनत करता है और इस कारण वह धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ को भूल जाता है।

एक अपेक्षा से काम पुरुषार्थ से भी अर्थ पुरुषार्थ हीन गिना गया है। कामान्धता से भी अर्थान्धता अधिक भयंकर है। धन के लोभ में अन्धे बने व्यक्ति के विवेकचक्षु पर आवरण आ जाता है और उसके सोचने-समझने की दृष्टि लुप्त हो जाती है।

मैथुन संज्ञा की प्रबलता होने पर व्यक्ति कामान्ध बन जाता है। कामान्ध व्यक्ति जहाँ-तहाँ से अपनी वासना की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। इस संज्ञा की प्रबलता होने पर परस्त्रीगमन व वेश्यागमन जैसे भयंकर पाप भी जीवन में घुस जाते हैं।

भय संज्ञा भी जीवात्मा को धर्म करने में बाधा पहुँचाती है।

इस प्रकार इस विश्व में चारों ओर चारों संज्ञाओं की प्रबलता होने से धर्म-श्रवण की इच्छा भी विरल आत्मा को ही होती है।

आहार संज्ञा की प्रबलता के कारण कंडरीक मुनि का पतन हुआ। मैथुन संज्ञा की प्रबलता के कारण मणिरथ ने अपने छोटे भाई युगबाहु की हत्या की। परिग्रह संज्ञा की प्रबलता के कारण मम्मण सेठ मरकर ७वीं नरक भूमि में गया। □

विविदिषायामपि श्रवणमतिदुर्लभं ,
धर्मशास्त्रस्य गुरुसन्निधाने ।
वितथविकथादितत्तद्रसावेशतो ,
विविधविक्षेपमलिनेऽवधाने, बुध्य० ।। १६७ ।।

अर्थ—सद्धर्म की जिज्ञासा होने के बाद भी व्यर्थ ही विकथा आदि के रस से अनेक प्रकार के विक्षेपों से मन के मलिन होने से सद्गुरु के सान्निध्य में धर्मशास्त्र का श्रवण अत्यन्त दुर्लभ है ।। १६७ ।।

विवेचन

धर्म का श्रवण दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से धर्म-श्रवण की इच्छा हो भी जाय, फिर भी गुरु के सान्निध्य में रहकर धर्म-श्रवण करना अत्यन्त ही दुर्लभ है क्योंकि चार प्रकार की विकथाएँ जीवात्मा के मार्ग में बाधा पहुँचाती रहती हैं ।

धर्मश्रवण की इच्छा हो जाय, फिर भी देशकथा, भक्त (भोजन) कथा, स्त्रीकथा और राजकथा के कारण व्यक्ति धर्मशास्त्र का श्रवण नहीं कर पाता है ।

धर्मशास्त्र का श्रवण गुरुमुख से ही होना चाहिये । मात्र पुस्तक पढ़ लेने से शास्त्र के रहस्य समझ में नहीं आ सकते हैं । गुरुगम के बिना किया गया शास्त्राभ्यास इतना अधिक हितकारी नहीं बन पाता है, जितना गुरुगम से प्राप्त ज्ञान बनता है ।

परन्तु गुरुगम से ज्ञान प्राप्त करने में सबसे बड़ी बाधा है—विकथा की।

वर्तमान वैज्ञानिक युग में रेडियो, टी.वी., वीडियो, सिनेमा, समाचारपत्र-पत्रिकाएँ आदि का इतना अधिक जोर-शोर से प्रचार हो रहा है अथवा हो गया है कि व्यक्ति का अधिकांश समय विकथाओं के श्रवण और वाचन में ही चला जाता है।

रेडियो से कौनसी खबरें प्रसारित होती हैं? राजकथा-देशकथा सम्बन्धी ही न? टी. वी. व सिनेमा के पर्दे पर कौन से चित्र आते हैं? स्त्रीकथा और भोजनकथा सम्बन्धी ही न?

आजकल के अखबार तो चारों प्रकार की विकथाओं से ही भरे होते हैं। हत्या, बलात्कार, हिंसा, डकैती, लूट, युद्ध, आक्रमण, सिनेमा आदि के ही अधिकांशतः समाचार होते हैं उनमें। बारम्बार उन समाचारों को पढ़ने से मनुष्य का मन भी विकृत बन जाता है और उसके जीवन में भी वे कुसंस्कार प्रबल बनने लग जाते हैं।

आजकल धर्मश्रवण के लिए फुर्सत किसे है? किसी प्रकार का काम-धन्धा न होने पर भी व्यक्ति इधर-उधर की बातें करने में अपना अमूल्य समय खो देता है और धर्मश्रवण के लाभ से वंचित रह जाता है।

विकथा आदि के अन्तरायों को पुरुषार्थ के बल से तोड़ा जा सकता है, परन्तु मोह की पराधीनता के कारण व्यक्ति इस प्रकार का पुरुषार्थ कर ही नहीं पाता है और वह धर्मश्रवण से सर्वदा वंचित रह जाता है। □

धर्ममाकर्ण्य सम्बुध्य तत्रोद्यमं ,
कुर्वतो वैरिवर्गोऽन्तरङ्गः ।
रागद्वेषश्रमालस्यनिद्रादिको ,
बाधते निहतसुकृतप्रसङ्गः ।। बुध्य० ।। १६८ ।।

अर्थ—धर्म का श्रवण करने के बाद धर्म में अच्छी तरह से उद्यम करने वाले को भी अन्तरंग-शत्रु वर्ग तथा राग, द्वेष, आलस्य तथा निद्रा आदि बाधा पहुँचाते रहते हैं और सुकृत के प्रसंग को नष्ट कर देते हैं ।। १६८ ।।

विवेचन

धर्माचरण में उद्यम दुर्लभ है

कदाचित् पुण्ययोग से धर्मश्रवण का अवसर मिल जाय और वह व्यक्ति धर्मश्रवण के लिए गुरु-सान्निध्य में पहुँच भी जाय, फिर भी वहाँ जाकर ध्यानपूर्वक धर्म का श्रवण करना उसके लिए दुर्लभ हो जाता है ।

धर्म का श्रवण करते-करते या तो उसे नींद आने लगती है अथवा उसका मन कहीं बाहर ही परिभ्रमण कर रहा होता है । जब तक काया की स्थिरता और मन की एकाग्रतापूर्वक धर्म का श्रवण न हो, तब तक वह धर्मश्रवण लाभकारी नहीं बन पाता है ।

किसी नगर में गुरु महाराज का चातुर्मास था । चातुर्मास में सेठ मगनभाई रोज प्रवचन सुनने के लिए आते थे और वे

महाराज के सामने ही बैठ जाते थे। परन्तु प्रवचन सुने कौन ? वे तो थोड़ी देर के बाद ही निद्राधीन हो जाते थे।

एक दिन प्रवचन प्रारम्भ हुआ। सेठजी आ गए और थोड़ी देर के बाद उनकी नींद प्रारम्भ हो गई।

महाराज ने उन्हें जगाने के लिए पूछा—'मगनभाई ! सोते हो ?'

'नहीं महाराज ! कौन कहता है ?' सेठ ने जवाब दिया।

थोड़ी देर बाद पुनः सेठजी को नींद आने लगी।

महाराज ने फिर कहा—'मगनभाई ! सोते हो ?'

सेठ ने कहा—'नहीं महाराज ! कौन कहता है ?'

थोड़ी देर बाद सेठजी वापस सोने लगे, अबकी बार महाराज ने प्रश्न का रूप बदल दिया और जोर से बोले—

'मगनभाई ! जिन्दा हो ?' सेठजी ने वही जवाब दिया—'नहीं महाराज ! कौन कहता है ?'

सेठ का उत्तर सुनकर चारों ओर हँसी की लहर फैल गई।

.....धर्मश्रवण का अवसर मिलने पर भी कई तो नींद में ही अपना समय बिता देते हैं....तो कई श्रोता कान से श्रवण करते हैं और उनका मन कहीं ओर भ्रमण कर रहा होता है।

मोटर डिपो में गाड़ी के आने-जाने के लिए *In and Out*

के बोर्ड लगे रहते हैं, वैसे ही अधिकांश श्रोता एक कान से सुनते हैं और दूसरे कान से निकाल देते हैं। ऐसे श्रोताओं को धर्म का बोध कहाँ से हो ?

कदाचित् ध्यानपूर्वक धर्म का श्रवण कर भी लें तो भी अन्तरंग शत्रु, (काम, क्रोध, लोभ, मद, मान और हर्ष) राग, द्वेष आदि व्यक्ति को परेशान करते रहते हैं और उन शत्रुओं के वशीभूत आत्मा अपनी समस्त साधना को निष्फल बना देती है।

वर्षों तक संयम का पालन किया, परन्तु काम की वासना के कारण सम्भूतिमुनि सब हार गए और उन्होंने चक्रवर्ती बनने का निदान कर लिया।

वर्षों तक निर्मल चारित्र व तप का आसेवन किया, परन्तु विशाखानन्दी की मजाक को सहन नहीं कर सकने के कारण विश्वभूतिमुनि ने बलप्राप्ति के लिए निदान कर लिया।

इस प्रकार धर्म का श्रवण होने के बाद भी अन्तरंग शत्रुओं के हमले से जीवात्मा पुनः पतन के गर्त में डूब जाती है। □

चतुरशीतावहो योनिलक्षेष्वियं ,
क्व त्वयाकर्णिता धर्मवार्ता ।
प्रायशो जगति जनता मिथो विवदते ,
ऋद्धिरसशातगुरुगौरवार्ता ।। बुध्य० ।। १६९ ।।

अर्थ—अहो आत्मन् ! चौरासी लाख जीवयोनि में भ्रमण करते हुए तूने धर्म की वार्ता कहाँ सुनी है ? अधिकांशतः

जगत् के प्राणी ऋद्धिगारव, रसगारव और शातागारव से पीड़ित होकर परस्पर विवाद करते रहते हैं ।। १६९ ।।

विवेचन

ऋद्धि-रस और शातागारव का त्याग करो

पूज्य उपाध्यायजी म. सद्धर्म-श्रवण की दुर्लभता का वर्णन करते हुए अपनी आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि—हे आत्मन् ! इस विराट् संसार में चौरासी लाख जीव-योनियों में परिभ्रमण करते हुए तूने धर्म का श्रवण कहाँ किया है ?

अनादि संसार के अनन्त भवों में आत्मा में ऋद्धिगारव, रसगारव और शातागारव की बातें तो बहुत भवों में की हैं, परन्तु धर्म का श्रवण कहाँ किया है ?

यदि मनुष्य और देव भव का उत्तम जन्म भी मिला तो उन भवों में भी ऋद्धि, रस और शातागारव की ही बातें की हैं ।

किस प्रकार से धन और वभव की प्राप्ति हो ? इसके लिए जीवात्मा ने विचार-विमर्श किया है ।

किस प्रकार के भोजन में अधिक स्वाद आ सकता है ? इस प्रकार की बातें बहुत बार की हैं ।

किस प्रकार से शरीर को नीरोग रखा जाय ? इस बात की चिन्ता अनेक भवों में की है । परन्तु धर्म का सम्यक् श्रवण ? किसी भव में नहीं किया ।

कदाचित् कान से धर्म का श्रवण किया भी हो तो भी उसे हृदय को स्पर्श होने नहीं दिया है।

सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी म. ने *'कल्याणमन्दिर स्तोत्र'* में कहा है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥

"हे जनबान्धव! गत जन्मों में मैंने आपकी वाणी का श्रवण किया भी होगा, आपकी मैंने पूजा भी की होगी और आपके दर्शन भी किए होंगे, परन्तु मैंने (अभी तक) आपको हृदय से धारण नहीं किया और इसी कारण मैं दुःख का पात्र बना हूँ, क्योंकि भावशून्य क्रियाएँ कभी फलदायी नहीं बनती हैं।"

चौरासी लाख जीव-योनियों में अधिकांशतः हम बहिरात्म-दशा में ही भटके हैं और देह में ही आत्मबुद्धि करके हमने दैहिक सुखों के लिए ही निरन्तर प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है।

वर्तमान में भी यदि अपने जीवन का निरीक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि अपना अधिकांश समय दैहिक/भौतिक सुखों के पीछे ही व्यतीत हो जाता है। खाना, पीना, सोना, घूमना इत्यादि-इत्यादि क्रियाएँ देह के सुख के लिए ही तो होती हैं। आत्मा के विकास की क्रियाओं के लिए समय ही कहाँ है?

दुनिया में भी चारों ओर लोगों से बातचीत करेंगे या सुनेंगे तो अधिकांशतः अर्थ और काम के पोषण की ही बातें होंगी।

How to earn money and how to satisfy our desires ?

बस ! ये ही दो प्रश्न हर व्यक्ति के सामने खड़े हैं और इन्हीं के समाधान के लिए सारे प्रयत्न पुरुषार्थपूर्वक होते हैं। □

एवमतिदुर्लभात् प्राप्य दुर्लभतमं ,
बोधिरत्नं सकलगुणनिधानम् ।
कुरु गुरुप्राज्यविनयप्रसादोदितम् ,
शान्तरससरसपीयूषपानम् ।। बुध्य० ।। १७० ।।

अर्थ—इस प्रकार अत्यन्त दुर्लभ, सकल गुण के आधार रूप और जो श्रेष्ठ विनय गुण के प्रसाद रूप में प्राप्त हुआ है, ऐसे बोधिरत्न का उपयोग करो और शान्तरस रूप अमृतरस का पान करो ।। १७० ।।

विवेचन

बोधिप्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो

अन्त में पूज्यपाद उपाध्यायजी म. यही फरमाते हैं कि हे भव्यात्मन् ! इस अनन्त संसार में बोधि की दुर्लभता को तू समझ और उसकी प्राप्ति के लिए तू पुरुषार्थ कर। क्योंकि यह बोधि सकल गुणों के निधान स्वरूप है। इस एक गुणरत्न की प्राप्ति होने के बाद अन्य गुणों को प्राप्त करना कठिन नहीं है ।

जिसे बहुमूल्य रत्न की प्राप्ति हो जाय उसके जीवन में दरिद्रता कहाँ से हो ?

बस। इसी प्रकार जिसने सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को पा लिया है, उसके जीवन में गुण-दरिद्रता नहीं आ सकती है।

बोधिरत्न तो सर्व गुणों का बीज-भूत है। जिस प्रकार वट के एक बीज में विराट् वृक्ष छिपा हुआ है, उसी प्रकार इस 'बोधि' गुण में अनेक गुण रहे हुए हैं, जो आत्मा सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करती है उसके जीवन में प्रशम, संवेग, निर्वेद आदि उत्तम गुणों का वास होता है और उस आत्मा के गुण निरन्तर बढ़ते जाते हैं।

हे भव्यात्मन्! तू शान्त अमृतरस का पान कर और श्रेष्ठ विनय की प्रसादी रूप बोधिरत्न का सेवन कर।

शान्त अमृतरस के पान के द्वारा पूज्य उपाध्यायजी म. ने अपने ग्रन्थ का भी नाम निर्देश कर दिया है और 'श्रेष्ठ विनय की प्रसादी रूप' पद से ग्रन्थकार ने अपने नाम का भी निर्देश कर दिया है।

वास्तव में, शान्तरस यह अमृतरस तुल्य है। जब अन्तरात्मा में कषायों की आग सर्वथा शान्त हो जाती है तभी आत्मा प्रशम रस के आनन्द का अनुभव कर सकती है।

13

मैत्री भावना

सद्धर्मध्यानसंधान-हेतवः श्रीजिनेश्वरैः ।
मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः ।। १७१ ।।
मैत्री-प्रमोदकारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ।। १७२ ।।
(अनुष्टुप्)

अर्थ—सद्धर्म-ध्यान में अच्छी तरह से जुड़ने के लिए श्री जिनेश्वरदेवों ने मैत्री प्रमुख चार श्रेष्ठ भावनाएँ कही हैं ।। १७१ ।।

अर्थ—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ धर्मध्यान को स्थिर करने के लिए सर्वदा सेवन करने योग्य जरूरी हैं, क्योंकि यह वास्तविक रसायन है ।। १७२ ।।

विवेचन

धर्मध्यान का रसायन : चार भावनाएँ

अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवन्तों ने आत्महित के लिए अनित्यादि बारह भावनाएँ और मैत्री आदि चार भावनाएँ बतलाई हैं ।

जब तक आत्मा का चरमावर्त में प्रवेश नहीं होता है और जब तक वह ग्रंथि-भेद नहीं करती है, तब तक आत्मा में राग-द्वेष की अत्यन्त प्रबलता रहती है। अचरमावर्ती और दीर्घसंसारी आत्मा में तीव्र राग और तीव्र द्वेष रहा हुआ होता है। उसे सांसारिक सुख और उस सुख के साधनों के प्रति तीव्र राग होता है और दुःख और दुःख के साधनों के प्रति तीव्र द्वेष होता है। सांसारिक सुख को पाने की तीव्र लालसा होने के कारण उसका अधिकांश प्रयत्न भी इसी के लिए होता है। इसके साथ ही वह दुःखमुक्ति के लिए भी अत्यन्त प्रयत्नशील होती है।

परन्तु आश्चर्य है कि सुख का तीव्र राग और दुःख का तीव्र द्वेष होने पर भी वह आत्मा न तो पूर्ण सुख को प्राप्त कर पाती है और न ही वह दुःख से मुक्त बन पाती है।

पूज्य वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी ने कहा है—

दुःखद्विट्सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्ट - गुणदोषाः।
यां यां करोति चेष्टां, तया तया दुःखमादत्ते॥

मोह के अन्धत्व के कारण वस्तु के वास्तविक गुण-दोष को नहीं समझने के कारण दुःख के प्रति तीव्र द्वेष और सुख की तीव्र लालसा होने पर भी यह आत्मा ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों नवीन दुःखों को ही प्राप्त करती है।

अनन्त ज्ञानी महापुरुषों ने बतलाया है कि 'इस भौतिक संसार में वास्तव में सुख नाम की कोई चीज नहीं है। इस संसार में जहाँ-जहाँ सुख दिखाई देता है, वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास ही है। मृग-मरीचिका की भाँति आत्मा को इस संसार में सुख दिखाई देता है, परन्तु वह कल्पना मात्र ही है।

वास्तव में, सुख तो आत्मा का धर्म है और वह आत्मा से ही प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु मोहान्धता के कारण जीवात्मा की दृष्टि आत्मा की ओर न होकर बहिर्जगत् की ओर ही होती है और वह उसी से सुख पाना चाहती है।

क्या मूंगफली के छिलकों को पीसने से तैल निकल सकता है ?

क्या पत्तों के सिंचन से वृक्ष का सिंचन हो सकता है ?

क्या जल का बिलौना करने से घी निकल सकता है ?

कदापि नहीं,....तो इसी प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों से भी सुख पाने की आशा करना व्यर्थ ही है।

जब तक आत्मा पर से मोह का आवरण नहीं हटता है, तब तक आत्मा आत्मिक-सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं बन पाती है। राग, द्वेष और मोह की पराधीनता के कारण आत्मा सन्मार्गगामी नहीं बन पाती है।

'रागी दोषान् न पश्यति। द्वेषी गुणान् न पश्यति। मोही तु विपर्यय पश्यति।' के नियमानुसार रागी व्यक्ति वस्तु के दोष को और द्वेषी व्यक्ति वस्तु के गुण को नहीं देख पाता है तथा मोहाधीन आत्मा वस्तु को विपरीत रूप में देखती है, वह गुण में दोषबुद्धि और दोष में गुणबुद्धि करती है।

इस मोह के कारण ही आत्मा जड़तत्त्व से अनुराग करती है और जीवतत्त्व से द्वेष करती है; जबकि जीव के प्रति मैत्री

और जड़ के प्रति विरक्ति होनी चाहिये। मोहाधीन अवस्था में आत्मा में जड़-राग और जीव-द्वेष की प्रबलता रहती है।

दुनिया में जहाँ कहीं भी राग-प्रेम दिखाई देता है, वह वास्तव में जड़त्व का ही राग होता है। हाँ, कहीं व्यक्तियों की भी पारस्परिक प्रीति दिखाई देती है, परन्तु वहाँ भी कोई जीवत्व का प्रेम या राग नहीं है, वह राग-प्रीति भी स्वार्थजन्य ही है।

पुरुष का स्त्री के प्रति राग रूप के कारण और स्त्री का पुरुष के प्रति राग प्रायः रुपए के कारण होता है। रूप और रुपया अथवा काम और अर्थ से जन्य प्रीति क्या कोई वास्तविक प्रीति है? वह तो वास्तव में जड़ का ही राग है।

आज के इस विज्ञान युग अथवा भौतिकवाद के युग में चारों ओर जड़-विज्ञान ही विकसित हुआ है और इसके द्वारा जड़ का ही राग पुष्ट बना है। जहाँ जड़ का तीव्र राग होगा, वहाँ जीवत्व का द्वेष देखने को मिलेगा ही।

जड़ के राग और जीवत्व के द्वेष के विसर्जन और जड़-विरक्ति और जीव मैत्री के सर्जन के लिए परमात्मा ने 'भावना' धर्म बतलाया है। अनित्यादि बारह भावनाओं से जड़-विरक्ति प्रगट होती है और मैत्री आदि भावनाओं से जीवत्व का अनुराग प्रबल होता है।

धर्म कल्पवृक्ष का मूल

'योगसार' ग्रन्थ में पूर्वाचार्य महर्षि ने कहा है—

धर्मकल्पद्रुमस्यैता मूलं मैत्र्यादिभावनाः।

ये मैत्री आदि भावनाएँ धर्म कल्पवृक्ष की मूल हैं। मूल के बिना वृक्ष टिक नहीं सकता है, उसी प्रकार मैत्री आदि के बिना धर्म कल्पवृक्ष का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

जापान की राजधानी तोकियो में एक माली रहता था। उसने अत्यन्त पुरुषार्थ करके एक बगीचे का सर्जन किया था। एक बार उसके पेट में शूल की भयंकर पीड़ा हो गई। इस हेतु ऑपरेशन कराना अनिवार्य हो गया। ऑपरेशन व ऑपरेशन के बाद एक मास तक आराम करना अनिवार्य हो गया। माली के दिल में बगीचे की चिन्ता पैदा हो गई। 'बगीचे का एक मास तक सिंचन नहीं होगा तो मेरा बगीचा सूख जाएगा?' माली के १५ वर्ष का एक बच्चा था, उसने अपने पिता को व्यथित देखकर पूछा—'पिताजी! आप इतने उदासीन क्यों हो?'

पिता ने अपने दिल की बात कह दी। बेटे ने कहा—"पिताजी! आप चिन्ता न करें, बगीचे का सिंचन मैं कर दूँगा।"

माली के बेटे ने बगीचे का कार्यभार संभाल लिया। माली निश्चिन्त हो गया। वह बालक वृक्ष-सिंचन की कला से अनभिज्ञ था, अतः उसने अपनी कल्पनानुसार एक बाल्टी में जल लिया और एक कपड़ा लेकर एक वृक्ष पर चढ़ गया। तत्पश्चात् उसने कपड़े से वृक्ष की पत्तियाँ साफ कीं और कपड़े को जल में भिगोकर, पत्तियों पर जल सिंचन करने लगा। दिन भर वह यही मेहनत करता रहा।

दिन पर दिन बीतने लगे और वे पौधे धीरे-धीरे कुम्हलाने लगे। यह देखकर उस बालक को बड़ा आश्चर्य हुआ, 'जल सिंचन करने के बाद भी ये पौधे क्यों सूख रहे हैं?'

धीरे-धीरे एक मास व्यतीत हो गया। माली का स्वास्थ्य ठीक हो गया। उसके दिल में बगीचे को देखने की इच्छा प्रगट हुई और वह अपने बेटे को लेकर उद्यान की ओर चल पड़ा।

थोड़ी ही देर में वह उद्यान के निकट पहुँच गया। उसने देखा—'उद्यान के सब पौधे सूख रहे हैं....।' यह देखते ही उसने अपने बेटे को धमकाते हुए कहा—'नालायक! तूने यह क्या कर दिया? बगीचे को समाप्त कर दिया? बगीचे का सिंचन क्यों नहीं किया?'

बेटा घबरा गया। अत्यन्त घबराते हुए उसने कहा—'पिताजी! मैंने प्रतिदिन इस उद्यान का सिंचन किया है, परन्तु पता नहीं, ये पौधे क्यों सूख रहे हैं?'

माली ने पूछा—'तूने इन पौधों का सिंचन कैसे किया था? बता तो जरा।'

पिता की आज्ञा पाते ही माली के बेटे ने एक बाल्टी में जल लिया और हाथ में एक वस्त्र लेकर वह एक पौधे के निकट जा पहुँचा और अपने वस्त्र से सर्वप्रथम वृक्ष की पत्तियों को साफ करने लगा, पत्तियों पर लगी धूल को साफ करने के बाद वस्त्र को जल में भिगोकर पत्तियों का सिंचन करने लगा।

माली ने यह दृश्य अपनी आँखों से देखा। उसने कहा—'बेटा! तेरा यह सब परिश्रम व्यर्थ गया है? सिंचन पत्तों का नहीं, बल्कि जड़ का होना चाहिये। यदि जड़ का सिंचन होगा तो वह जल पत्तों तक पहुँच जाएगा और पत्तों का सिंचन तो पत्तों को ही समाप्त कर देगा।'

बस, आध्यात्मिक जगत् में हमारी स्थिति उस बालक की तरह ही है। हम भी धर्म-वृक्ष के मूल का सिंचन तो भूल रहे हैं और धर्म के अन्य अंगों के सिंचन का प्रदर्शन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में धर्म का वास्तविक फल कहाँ से मिल सकेगा।

अध्यात्म-उपासक किसी महात्मा के जीवन की एक घटना है। वे प्रतिदिन संध्या समय परमात्मा का ध्यान करते थे। एक बार वे संध्या समय ध्यान में बैठे, किन्तु आज उनका मन ध्यान में एकाग्र नहीं बन पा रहा था। उन्होंने बहुत प्रयत्न किए, परन्तु वे सब प्रयत्न विफल गए। वे सोचने लगे–'आज ध्यान में एकाग्रता क्यों नहीं आ रही है?' कुछ सोचने के बाद उन्हें पता चला–'आज किसी निरपराधी के साथ सामान्य झगड़ा हो गया था और आक्रोश में मैंने अत्यन्त कटु शब्द कह दिए थे।'

तत्काल वे अपने स्थान से खड़े हो गए और उन्होंने जाकर उस निरपराधी व्यक्ति से क्षमायाचना की।

बस, इस क्षमायाचना का एक जादुई असर हुआ। वे ज्योंही ध्यान में बैठे, उनका मन ध्यान में केन्द्रित हो गया।

'मैत्री भावना' हमें सर्व जीवात्माओं के साथ आत्मीय सम्बन्ध जोड़ना सिखाती है। 'मैत्री' अर्थात् अन्य का हितचिन्तन। इस भावना के पात्र जगत् के समस्त जीव हैं अर्थात् इस भावना के द्वारा जगत् में रहे समस्त जीवों के कल्याण की कामना की जाती है।

पूज्यपाद सूरिपुरन्दर हरिभद्र सूरिजी म. ने भी धर्म की व्याख्या करते समय **'मैत्र्यादिभावसंयुक्तं, तद्धर्म इति कीर्त्यते'**। कहकर मैत्री आदि भावनाओं की महत्ता बतलाई है।

वास्तव में, वही अनुष्ठान धर्मानुष्ठान है, जिसके गर्भ में मैत्री आदि भावनाएँ रही हुई हैं। मैत्री आदि भावनाओं से रहित अनुष्ठान धर्मानुष्ठान नहीं है।

अपनी आत्मा को शुभध्यान (धर्मध्यान) से जोड़ने के लिए मैत्री आदि भावनाएँ अनिवार्य हैं।

अपनी आत्मा ज्यों-ज्यों इन मैत्री आदि भावनाओं से भावित/ओतप्रोत बनती है, त्यों-त्यों वह धर्मध्यान में स्थिर बनती जाती है।

मात्र स्व-सुख का चिन्तन आर्त्तध्यान है। मात्र स्व-सुख के रक्षण और दुःख के निवारण का चिन्तन आर्त्तध्यान है, जो अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में डालता है; जबकि जगत् में रही सर्व जीवात्माओं का हित-चिन्तन, सर्व की सुखप्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का चिन्तन धर्मध्यान है।

'स्व-सुख' की इच्छा आर्त्तध्यान है।

सर्व-सुख की इच्छा धर्मध्यान है।

आर्त्तध्यान से धर्मध्यान में जाने के लिए ये भावनाएँ सेतु का काम करती हैं।

जिनेश्वर भगवन्तों ने मैत्री आदि भावनाएँ बतलाकर भव्यात्माओं पर महान् उपकार किया है।

ये मैत्री भावनाएँ धर्मध्यान का रसायन हैं।

जिस प्रकार सुवर्णभस्म, कस्तूरी, लोहभस्म आदि का

उपयोग करने से देह की पुष्टि होती है, उसी प्रकार मैत्री आदि भावनाओं के भावन से आत्मा पुष्ट बनती है।

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यत्,
भवेत् प्रमोदो गुणपक्षपातः।
कारुण्यमार्ताऽङ्गिगरुजां जिहीर्षे-
त्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा ।। १७३ ।।
(उपजाति)

अर्थ—अन्य जीवों का हित-चिन्तन **मैत्री भावना** है, गुण का पक्ष करना **प्रमोद भावना** है, दुःखी प्राणियों के दुःख को दूर करने की इच्छा **करुणा भावना** है और दुष्ट बुद्धि वाले जीवों पर राग-द्वेष रहित होकर रहना **माध्यस्थ भावना** है ।। १७३ ।।

विवेचन

चार भावनाओं का स्वरूप

प्रस्तुत गाथा में ग्रन्थकार महर्षि ने अत्यन्त ही संक्षेप में किन्तु बहुत अर्थगम्भीर व्याख्या प्रस्तुत की है।

मैत्री अर्थात् पर-हित-चिन्तन।

प्रमोद अर्थात् गुण का पक्षपात।

करुणा अर्थात् दुःखी के दुःख को दूर करने की इच्छा।

माध्यस्थ्य अर्थात् दुष्टबुद्धि वालों की उपेक्षा।

ये चारों भावनाएँ जीव सम्बन्धी हैं। इस संसार में जो अनन्तान्त आत्माएँ हैं, उन आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में कौन-सी भावना होनी चाहिये और उस भावना का स्वरूप क्या है? यह बात हमें पूज्य उपाध्यायजी म. सिखा रहे हैं।

मैत्री भावना—यह मैत्री भावना जगत् में रहे हुए समस्त प्राणियों के प्रति रखने की है। चाहे वह जीव एकेन्द्रिय अवस्था में हो, चाहे बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय या पंचेन्द्रिय अवस्था में हो। वह जीव सूक्ष्म हो या बादर हो, पर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त हो, त्रस हो या स्थावर हो। मनुष्य हो या तिर्यंच हो, देव हो या नारक हो। व्यवहारराशि वाला हो या अव्यवहार-राशि वाला हो, उन सब जीवों के प्रति हमारे हृदय में मैत्री भावना होनी चाहिये।

जीवत्व के प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी अन्तरंग साधना में बाधक है, जब तक इस संसार में एक भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव रहेगा, तब तक आत्मा की मुक्ति होने वाली नहीं है।

इसीलिए तो दोनों संध्या-प्रतिक्रमण करते समय **'मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केण वि'** पाठ बोला जाता है।

(१) मेरी सब जीवों के साथ मैत्री है और (२) किसी के साथ वैर नहीं है।

मैत्री भावना का स्वरूप है—परहित-चिन्तन। इस भावना के द्वारा जगत् के सर्व जीवों के हित की कामना की जाती है।

(इस भावना का विशद विवेचन आगे की गाथाओं में होगा।)

प्रमोद भावना—इस दुनिया में कई जीव अपने से अधिक गुणवान हैं। ऐसी गुणवन्त आत्माओं के प्रति हमारे हृदय में प्रमोद/बहुमान का भाव होना चाहिये। गुणवान आत्माओं के प्रति ईर्ष्या का भाव न रखकर सम्मान का भाव रखना चाहिये।

गुणवान आत्माओं के गुणों के प्रति पक्ष भाव रखने से उन आत्माओं में रहे हुए गुण हमें भी प्राप्त होते हैं।

जिस वृत्ति/प्रवृत्ति के प्रति हमारे हृदय में आदर-बहुमान का भाव होता है वह वृत्ति/प्रवृत्ति धीरे-धीरे हमारे जीवन में भी आ जाती है। आज तक मोहाधीनता के कारण हमने संसार के सुख के राग व द्वेष को ही अच्छा माना है, अतः वही वृत्ति हमारे जीवन में घर कर गई है, अब उस वृत्ति के बजाय गुणीजनों के गुणों के प्रति बहुमान/आदर भाव को जागृत करना है और इस हेतु प्रमोद भावना से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिये।

करुणा भावना—इस संसार में अनेक जीवात्माएँ दुःख, दर्द और यातनाओं से पीड़ित हैं, उन दुःखी जीवों के दुःख निवारण के लिए हमारे हृदय में करुणा भावना होनी चाहिये। दुःखी के प्रति करुणा रखने से हमारा हृदय आर्द्र/कोमल बनता है। कोमलहृदयी आत्मा ही जीवदया/अहिंसा, क्षमा आदि धर्मों का पालन कर सकती है, जिसका हृदय कठोर व निर्दय है, वह अहिंसादि धर्मों की आराधना नहीं कर सकता है।

अतः हृदय को कोमल बनाये रखने के लिए उसे करुणा भावना से भावित करना चाहिये।

४. माध्यस्थ्य भावना—अपने तीव्रतम पापोदय के कारण कई आत्माओं को धर्म के प्रति रुचि नहीं होती है। वे अत्यन्त निर्दय, क्रूर और कठोर होती हैं, उनको धर्मोपदेश देना सर्प को दूध पिलाने तुल्य होता है।

अतः ऐसी पापात्माओं के प्रति जिनको धर्मोपदेश देना भी व्यर्थ है, अपने हृदय में माध्यस्थ्य भावना होनी चाहिये। अर्थात् ऐसी पापी आत्माओं के प्रति भी हमारे हृदय में द्वेष भाव नहीं आना चाहिये, बल्कि उनके प्रति मध्यस्थ भाव धारण करना चाहिये। □

सर्वत्र मैत्रीमुपकल्पयात्मन् !
चिन्त्यो जगत्यत्र न कोऽपि शत्रुः।
कियद्दिनस्थायिनि जीवितेऽस्मिन्,
किं खिद्यते वैरिधिया परस्मिन् ॥ १७४ ॥
(उपजाति)

अर्थ—हे आत्मन् ! सर्व जीवों पर मैत्री भाव धारण करो। इस जगत् में किसी को शत्रु न मानो। इस जीवन में कितने दिन रहने का है ? अन्य पर शत्रुबुद्धि करके व्यर्थ ही क्यों खेद पाते हो ? ॥ १७४ ॥

विवेचन

अल्पकालीन जीवन में किसी से वैर क्यों रखें

हे आत्मन् ! इस जगत् में रहे हुए सर्व जीवों के प्रति तू मैत्री भाव धारण कर। किसी के प्रति भी द्वेष मत कर।

तेरा यह जीवन तो क्षणभंगुर है। तू व्यर्थ ही अन्य जीवों के प्रति वैर भाव को धारण कर क्यों खेद पाता है ?

यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जब भी हम किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष या वैर भाव को धारण करते हैं, तब हमारा चित्त अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, चित्त की प्रसन्नता समाप्त हो जाती है और चित्त अत्यन्त ही चंचल हो जाता है, फिर अनेकविध व्यर्थ-विचार चित्त में पैदा होते हैं।

'....वह तो मेरा दुश्मन है....उसने मेरा यह बिगाड़ दिया....अब मैं उसे किसी प्रकार की सहायता नहीं करूंगा,....वह मुझे कमजोर समझता है ?....अब मैं भी उसे देख लूंगा....अपने वैर का बदला बराबर लूंगा।'....इत्यादि-इत्यादि वैर-भावनाओं के विचार से हमारा मन कलुषित हो जाता है और हमारी आत्मा में कर्म का आस्रव-द्वार खुल जाता है। कई बार हमारे मन में किसी व्यक्ति विशेष के लिए जो कुछ बुरे विचार पैदा होते हैं, उनमें से हम कुछ भी कर नहीं पाते हैं....फिर भी आत्मा व्यर्थ ही परेशान होती है।

वाचकवर्य श्री उमास्वातिजी म. ने 'प्रशमरति' में कहा है—

'क्रोधः परितापकरः,....वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः।' अर्थात् क्रोध अत्यन्त परिताप/सन्ताप पैदा करने वाला है....तथा वैर की परम्परा को जन्म देने वाला है।

अतः 'हे आत्मन् ! इस संसार में तू किसी को शत्रु मत मान।' क्योंकि किसी को शत्रु मानने पर ही क्रोध पैदा होता है और क्रोध से वैर-भाव पैदा होता है। क्रोध से वैर भाव बढ़ता

है और वैर भाव से क्रोध पैदा होता है। इस प्रकार एक बार किसी जीव को शत्रु/दुश्मन मान लेने से हमारी वैर की परम्परा अनेक भवों तक बढ़ जाती है।

'समराइच्च कहा' इस बात का जीता-जागता दृष्टान्त है। एक अग्निशर्मा के हृदय में गुणसेन राजा के प्रति द्वेष भाव पैदा हो गया। फलस्वरूप अग्निशर्मा के हृदय में रही वैर भाव की परम्परा नौ भवों तक चलती रही और नौ भवों तक उसने गुणसेन राजा के जीव को मारने का प्रयत्न किया।

इस वैर भावना का फल क्या हुआ ?....एक मात्र अनन्त संसार की वृद्धि ही न ?

अग्निशर्मा की आत्मा ने लाखों पूर्व वर्षों तक मासक्षमण के पारणे मासक्षमण की उग्र तपस्या की थी, परन्तु गुणसेन राजा के प्रति द्वेष/वैर भाव पैदा हो जाने से वह तप का सब फल हार गया।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

क्रोधे क्रोड पूरव तणुं, संयम फल जाय।
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय॥

एक महात्मा मासक्षमण के पारणे मासक्षमण करते थे। एक बार बालमुनि के साथ वे गोचरी जा रहे थे, उनके पैर के नीचे एक मेंढ़क दबकर मर गया....बालमुनि ने याद दिलाया—'आपके पैर के नीचे यह मेंढ़क दबकर मर गया है।'

बालमुनि की बात सुनते ही तपस्वी मुनि का पारा आसमान

चढ़ गया और वे उसे फटकारते हुए, मरे हुए अन्य मेंढ़क को दिखाते हुए बोले—'क्या यह सब मैंने मारा है ?'

संध्याकालीन प्रतिक्रमण के समय अन्य मुनियों की उपस्थिति में जब बालमुनि ने तपस्वीमुनि को अपनी भूल याद दिलाई तो वे झल्ला उठे, अत्यन्त आवेश में आ गये और उस बालमुनि को रजोहरण से मारने के लिए दौड़ पड़े।

भावी जो होना था····बालमुनि दौड़े···तपस्वीमुनि भी दौड़े····रात्रि का अन्धकार था····उपाश्रय में पत्थर का स्तम्भ था····तपस्वीमुनि उससे टकरा गए और उसी क्रोधावस्था में उनके प्राणपखेरू उड़ गए····ज्योतिष देव के भव के बाद वे कोशिक नामक तापस बने, उस भव में भी क्रोधावस्था में उनकी मृत्यु हुई और वहाँ से मरकर वे चण्डकोशिक दृष्टिविष सर्प बने।

उस सर्प की दृष्टि में ही विष था, जिस पर वह दृष्टि डालता, वह वहीं पर धराशायी हो जाता।

इस प्रकार बालमुनि पर क्रोध भाव धारण करने से तपस्वी महात्मा का पतन हो गया। यह तो कुछ अहोभाग्य था कि उस सर्प को भगवान महावीर का संगम हो गया और प्रभु की वाणी को सुनकर वह प्रतिबुद्ध हो गया।

भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के समय स्कन्दिलाचार्य नामक आचार्य हुए, जिनके ५०० शिष्य थे।

किसी वैर की भावना से पालक मंत्री ने स्कन्दिलाचार्य के ५०० शिष्यों को घाणी (यंत्र) में पिलवा दिया।

स्कन्दिलाचार्य ने सबको समत्व धर्म का उपदेश दिया। उनके उपदेश से भावित बने सभी शिष्य सर्व घाती-अघाती कर्मों से मुक्त बनकर मुक्ति में चले गए····और स्कन्दिलाचार्य ?

उनके हृदय में पालक के प्रति वैर/क्रोध की भावना जाग उठी और उन्होंने अपने संसार की अभिवृद्धि कर ली।

किसी भी जीव के प्रति किए हुए क्रोध का विपाक अत्यन्त भयंकर होता है।

एक बार एक स्त्री अपनी पड़ोसी स्त्री से भयंकर झगड़ा करके अपने घर आई। घर आकर उसने अपने बच्चे को स्तन-पान कराया। थोड़ी ही देर में बच्चा मर गया। डॉक्टर ने आकर बच्चे के शरीर की जाँच की। अन्त में उसने कहा— 'अत्यन्त क्रोध के कारण उस बच्चे की माँ का दूध जहरीला हो गया और उस स्तनपान से ही बच्चे की मृत्यु हुई है।'

अपने इहलौकिक और पारलौकिक जीवन पर क्रोध का अत्यधिक असर होता है। क्रोधी व्यक्ति सभी का अप्रिय बन जाता है। कोई भी व्यक्ति उसके साथ व्यवहार करने में हिचकिचाता है।

क्रोधयुक्त अवस्था में मृत्यु होने पर आत्मा की दुर्गति ही होती है।

इस प्रकार किसी भी जीव के प्रति वैरभाव रखना अत्यन्त अहितकर है। अतः हे आत्मन्! तू किसी भी जीवात्मा के प्रति वैर भाव धारण मत कर, क्योंकि तेरा यह जीवन तो

कितना क्षणिक है? जब तेरे जीवन-अस्तित्व का ही कोई भरोसा नहीं है, तो तू व्यर्थ इस जीवन के क्षणिक सुखों के लिए किसी व्यक्ति पर क्रोध कर अपनी आत्मिक शान्ति को क्यों नष्ट करता है? □

सर्वेऽप्यमी बन्धुतयाऽनुभूताः,
सहस्रशोऽस्मिन् भवता भवाब्धौ।
जीवास्ततो बन्धव एव सर्वे,
न कोऽपि ते शत्रुरिति प्रतीहि ।। १७५ ।।
(उपजाति)

अर्थ—इस संसार रूपी सागर में ये सभी जीव हजारों बार बन्धु रूप से अनुभव किए हुए हैं, अतः ये सब तुम्हारे बन्धु हैं। कोई भी जीव तुम्हारा शत्रु नहीं है, इस बात का मन में निश्चय करो।। १७५ ।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव अपने मित्र हैं

हे आत्मन्! इस संसार में सभी जीव तेरे बन्धु/भाई हैं, क्योंकि इस अनन्त संसार में सभी जीवों के साथ भाई के सम्बन्ध किए हैं।

इस संसार में अपनी आत्मा का अस्तित्व अनादि काल से है। सभी आत्माएँ अनादि से हैं। इस संसार में अपनी आत्मा ने अनन्त बार मनुष्य आदि का जीवन भी पाया है और उन जीवनों में अनेकानेक जीवों के साथ भाईचारे के सम्बन्ध भी किए

हैं। अतः हे आत्मन्! आज तू जिस आत्मा/व्यक्ति के प्रति शत्रु भाव को धारण कर रहा है, वह तो गत जन्मों में तेरा बन्धु था, अतः वर्तमान में शत्रु भाव को धारण कर तू उस (गत जन्म की) बन्धुता को नष्ट क्यों कर रहा है?

अपने भाई के साथ तो भ्रातृत्व भाव होना चाहिये! उसके प्रति वैर भाव रखना तो मूर्खता ही है। अतः आज तू जिसे शत्रु मान रहा है, उसके प्रति तेरे हृदय में रही हुई शत्रुता का तू त्याग कर दे और उसके प्रति भी मैत्री भाव को धारण कर। जब वह तेरा भाई ही है, तो फिर उस पर शत्रु भाव क्यों? भाई के प्रति तो स्नेह/प्रेम होना चाहिये। उस वैर भाव का त्याग कर अब उस शत्रु को भी गले लगाना सीख। उसके आत्म-हित का चिन्तन कर। □

सर्वे पितृ-भ्रातृ-पितृव्य-मातृ-
पुत्राङ्गजास्त्रीभगिनीस्नुषात्वम्।
जीवाः प्रपन्ना बहुशस्तदेतत्,
कुटुम्बमेवेति परो न कश्चित्॥ १७६॥
(उपजाति)

अर्थ—(इस संसार में) ये सभी जीव पिता, भ्राता, चाचा, माता, पुत्र, पुत्री, स्त्री, बहिन तथा पुत्रवधू के रूप में बहुत बार प्राप्त हुए हैं अतः यह सब तुम्हारा ही कुटुम्ब है, पराया या दुश्मन नहीं है॥ १७६॥

विवेचन

जगत् के सभी जीव अपने ही कुटुम्बी हैं

हे आत्मन्! इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब तेरे

परिवार के ही अंग हैं। गत जन्मों में उन जीवों के साथ माता, पिता, चाचा, भाई, बहिन, स्त्री तथा पुत्रवधू आदि के सम्बन्ध किए हैं। अतः यह समस्त विश्व तेरा परिवार ही है। उन सभी जीवों को अपने परिवार का अंग मानकर उनके प्रति तू समुचित व्यवहार कर। किसी के प्रति द्वेष या वैर भाव धारण मत कर।

इस संसार में परिभ्रमण करते हुए हमारी आत्मा ने हर जीव के साथ हर प्रकार के सम्बन्ध बाँधे हैं। हर जीव के साथ किसी-न-किसी भव में हमारा पारिवारिक घनिष्ट सम्बन्ध भी रहा हुआ है, अतः ये सभी जीव तेरे आत्मीय जन ही हैं, तेरे लिए कोई जीव पराया नहीं है। अतः किसी को भी तू शत्रु मत मान। सबको अपना स्वजन मानकर उनके प्रति हितबुद्धि धारण कर।

आज तू जिसे शत्रु मान रहा है, वह गत जन्म का तेरा पिता भी हो सकता है....माँ भी हो सकती है....पुत्र भी हो सकता है। अतः तू उस शत्रुता का त्याग कर दे। □

एकेन्द्रियाद्या अपि हन्त जीवाः,
पञ्चेन्द्रियत्वाद्यधिगत्य सम्यक्।
बोधिं समाराध्य कदा लभन्ते,
भूयो भवभ्रान्तिभियां विरामम् ।। १७७ ।।

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—एकेन्द्रिय आदि जीव भी पंचेन्द्रिय आदि विशिष्ट सामग्री को प्राप्त कर बोधिरत्न की आराधना कर भवभ्रमण के भय से कब विराम पाएंगे ? ।। १७७ ।।

विवेचन

सभी आत्माएँ बोधि प्राप्त करें

हे आत्मन् ! तू सर्व जीवों के प्रति मैत्री भाव को धारण कर। वे एकेन्द्रिय आदि प्राणी भी शीघ्र पंचेन्द्रिय अवस्था को प्राप्त करें और बोधि की आराधना कर अपने भव-भ्रमण को सीमित कर दें।

अहो ! इस भीषण संसार में एकेन्द्रिय आदि जीवों की कैसी भयंकर हालत है ?

निगोद के जीव निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा का अनुभव कर रहे हैं। अपने एक श्वासोच्छ्वास में उनके १७ बार जन्म-मरण और १८ वीं बार पुनः जन्म हो जाता है।

अनन्तकाल से वे इस पीड़ा को भोग रहे हैं। कब वे इस भयंकर पीड़ा से मुक्त बनेंगे ?

....और इधर पृथ्वीकाय के जीव सर्दी-गर्मी के कारण पीड़ित हैं....पैरों तले रौंदे जा रहे हैं....अप्काय के जीवों की भी कैसी बुरी हालत है, कई परस्पर टकराकर मर रहे हैं....तो कई धूप से मर रहे हैं....अहो ! कई जीव उन्हें ऐसे ही निगल रहे हैं। अग्निकाय के जीवों की भी यही दुर्दशा है जल के प्रतिकार से वे नष्ट हो रहे हैं।

वायुकाय के जीव भी परस्पर संघर्ष द्वारा नष्ट हो रहे हैं। मनुष्य आदि के श्वासोच्छ्वास द्वारा उनका जीवन समाप्त हो रहा है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येक।

साधारण वनस्पतिकाय के एक शरीर में अनन्त जीव एक साथ रहे हुए हैं। उनका जीवन एक साथ है, वे निरन्तर जन्म-मरण की पीड़ा भोग रहे हैं। उनकी काय-स्थिति अनन्तकाल की है।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव भी निरन्तर सर्दी, गर्मी व वर्षा की पीड़ा सहन कर रहे हैं।

इस संसार में बेइन्द्रिय आदि जीवों की भी अत्यन्त दयनीय स्थिति है।

चींटी सुगन्ध व स्वाद पाने के लिए घी की ओर दौड़ती है, परन्तु घी के निकट पहुँचते ही उसका जीवन सदा के लिए समाप्त हो जाता है। उस बेचारी को कहाँ पता है कि यहाँ मुझे स्वाद नहीं, बल्कि मौत ही मिलने वाली है।

दूध-घी की सुगन्ध से आकर्षित होकर मक्खी ज्यों ही दूध-घी पर बैठती है, त्योंही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। बैठी थी कुछ पाने के लिए, परन्तु वहीं पर सब कुछ खो देती है।

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों की भी कैसी बुरी हालत है? मत्स्यगलागलन्याय के अनुसार बड़े प्राणी छोटे प्राणियों का भक्षण करते जा रहे हैं।

चूहे को बिल्ली का डर है, बिल्ली को कुत्ते का डर है, कुत्ते को अन्य हिंसक प्राणी का डर है, इस प्रकार सभी तिर्यंच अत्यन्त भयभीत होकर ही जी रहे होते हैं। साथ ही, उन्हें भूख और प्यास की भी अत्यन्त पीड़ा है।

अत्यन्त भूख लगी है, चारा थोड़ी सी दूरी पर पड़ा है, परन्तु खूंटे से बँधे होने के कारण वह बैल चारा नहीं खा पाता है और उसे भूख-प्यास सहन करनी ही पड़ती है।

उन गाय, भैंस, बैल, बकरे, बकरी आदि की कैसी दयनीय स्थिति है? जब तक उनसे अपने स्वार्थ की सिद्धि होती है, तब तक तो उन्हें अनुकूल चारा आदि दिया जाता है और उसके बाद उनकी कौन परवाह करता है? या तो वे वैसे ही भूखे-प्यासे प्राण छोड़ देते हैं, अथवा उन्हें कत्लखाने में भेज दिया जाता है।

इस संसार में नरक के जीवों की भी कैसी भयंकर दर्दनाक स्थिति है? निरन्तर परमाधामी देवों के द्वारा उन्हें सताया जाता है। वे अपने रक्षण के लिए सतत उपाय शोधते रहते हैं, परन्तु कहीं भी उन्हें अपने रक्षण का उपाय नहीं मिल पाता है.... इस कारण ही वे मृत्यु की इच्छा करते हैं।

देवों की दुनिया भी कोई अनुमोदनीय नहीं है। राग-द्वेष, लोभ और ईर्ष्या के फन्दे में फँसे देवों की स्थिति भी अत्यन्त दयनीय ही है।

सुख में पागल होकर वे अपनी आत्मा की अधोगति खड़ी कर रहे हैं।

अनार्य आदि देशों में जन्म प्राप्त मनुष्यों की भी स्थिति कहाँ अच्छी है? हिंसा, झूठ-व्यभिचार, शराब, मांसाहार आदि पापाचरण द्वारा वे अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में डाल रहे हैं।

धन्य तो वे आत्माएँ हैं, जिन्हें भाव से जिनशासन की प्राप्ति

हुई है और उस जिनशासन की आराधना कर वे अपने संसार-भ्रमण को समाप्त कर रही हैं।

धर्महीन और दुःखी उन समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव को धारण करने के लिए पूज्य उपाध्याय जी म. फरमाते हैं कि हे आत्मन्! तू इस प्रकार की शुभ भावना कर कि वे सभी जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यादि अवस्था को प्राप्त कर जिनशासन की आराधना करें और बोधिरत्न को प्राप्त कर, अपनी आत्मा के भव-भ्रमण को सदा के लिए मिटा दें।

इस संसार में जिनशासन/परमात्म-शासन ही आत्मा को सच्चे सुख का मार्ग दिखलाता है। उसकी प्राप्ति और उसके आराधन से ही आत्मा भव-भ्रमण के बन्धन से मुक्त बन सकती है। उसकी प्राप्ति से रहित चक्रवर्तीपना भी आत्मा के लिए हितकर नहीं है। □

या रागरोषादिरुजो जनानां,
शाम्यन्तु वाक्काय-मनोद्रुहस्ताः।
सर्वेऽप्युदासीनरसं रसन्तु,
सर्वत्र सर्वे सुखिनो भवन्तु॥ १७८॥

(इन्द्रवज्रा)

अर्थ—सभी प्राणियों के मन, वचन और काया को दुःख देने वाले राग-द्वेष आदि सभी रोग शान्त हो जायें। सभी जीव समतारस का पान करें और सभी जीव सर्वत्र सुखी बनें॥ १७८॥

विवेचन

जगत् के सभी जीव सुखी हों

इस संसार में जीवात्मा को सबसे बुरा रोग लगा है—राग और द्वेष का; यदि राग और द्वेष न हों तो आत्मा का इस संसार में परिभ्रमण भी नहीं होगा। राग एक ऐसा स्नेह (चिकाश) है, जिसके कारण ही कर्मवर्गणाएँ आकर आत्मा पर चिपकती हैं।

राग और द्वेष के अध्यवसाय करके आत्मा कर्मों को अपनी ओर खींचती है। यदि आत्मा में राग-द्वेष की स्निग्धता नहीं है, तो कर्म आकर कभी नहीं चिपकेंगे।

आत्मा के संसार का मूल कारण राग ही है। जहाँ राग है, वहाँ द्वेष का अस्तित्व भी अवश्य होगा। जिसके हृदय में सानुकूल पदार्थों के प्रति राग रहा हुआ है, उसके हृदय में प्रतिकूल वस्तुओं के प्रति अवश्य द्वेष होगा ही।

राग-द्वेष की अभिव्यक्ति मन, वचन और काया के द्वारा होती है। अनुकूल वस्तु मिलने पर मन का प्रसन्न होना, मन का राग है, राग-युक्त वचन बोलना वचन का राग है और देह के अनुकूल वस्तु का भोग करना, काया का राग है। इसी प्रकार प्रतिकूल वस्तु मिलने पर अप्रसन्न बनना, मन का द्वेष है। किसी को अहितकर कटुवचन बोलना वचनद्वेष है और प्रतिकूल प्रसंग में न रहना, उससे दूर भागना आदि कायाकाद्वेष है।

मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित करने के लिए इस प्रकार विचार करें कि—

'जगत् में रहे सर्व जीवों के राग-द्वेष रूप शत्रु शान्त हो जायें। सभी जीव उदासीन/वीतराग अवस्था को प्राप्त करें और सभी जीव सदा काल सुखी बनें।'

राग-द्वेष के उपशमन से, वीतराग अवस्था पाने पर सभी जीव सदा के लिए सुखी बन सकते हैं।

'इस संसार में कोई भी जीव पाप न करे। कोई भी जीव दुःखी न हो। सभी जीव मुक्ति-पद को प्राप्त करें।'

इस प्रकार की मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित करने से आत्मा कर्म के बन्धन से मुक्त बनती है, तत्काल चित्त-प्रसन्नता का अनुभव करती है और परम्परा से मुक्ति-पद को प्राप्त करती है।

अपने सुख-दुःख के प्रति, शत्रु-मित्र के प्रति, अनुकूलता-प्रतिकूलता के प्रति जब मध्यस्थ भाव पैदा होता है, तब वास्तविक उदासीनता (तटस्थता) गुण की प्राप्ति होती है, इस गुण की प्राप्ति होने पर जीवन में वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है, इस संसार में सभी जीव इस प्रकार के उदासीन भाव को प्राप्त करें और सभी जीव सदा काल सुखी बनें।

त्रयोदशभावनाष्टकम्

(राग-टोडी)

विनय विचिन्तय मित्रतां ,
त्रिजगति जनतासु ।
कर्मविचित्रतया गतिं ,
विविधां गमितासु ।। विनय० १७९ ।।

अर्थ—हे विनय ! कर्म की विचित्रता से विविध गतियों में जाने वाले त्रिजगत् के प्राणियों के विषय में मैत्री का चिन्तन कर ।। १८९ ।।

विवेचन

जगत् के जीवों के प्रति मैत्री रखो

पूज्य उपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी म. अपनी आत्मा को सम्बोधित करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! हे आत्मन् ! संसार के समस्त जीवों के प्रति तू मैत्री भाव धारण कर। किसी पशु आदि के मलिन देह को देखकर तू उससे घृणा मत कर। किसी को विकलाङ्ग देखकर उसका उपहास मत कर। किसी को मूर्ख या बुद्धिहीन जानकर उसका तिरस्कार मत कर। किसी को अत्यन्त दुःखी जानकर उसकी उपेक्षा मत कर। बल्कि

जगत् के सर्व जीवों को तू अपना मित्र मान। आज वे जीव जिस विकृत अवस्था में तुझे दिखाई दे रहे हैं, यह तो उनकी कर्म-कृत अवस्था है। स्व-स्व-कर्म की भिन्नता के कारण सभी आत्माओं की भिन्न-भिन्न स्थिति है। कोई शुभ पुण्योदय से राजा बना हुआ है, तो कोई पापोदय से रंक बना हुआ है। किसी के यश नामकर्म का उदय होने से चारों ओर उसका यश फैल रहा है तो किसी के अपयश नामकर्म का उदय होने से चारों ओर उसकी निन्दा हो रही है।

किसी के सुस्वर नामकर्म का उदय होने से जब वह गाता है, तब हजारों लोग इकट्ठे हो जाते हैं और मस्ती से झूमने लगते हैं तो किसी के दुस्वर का उदय होने से उसकी वाणी सभी को कर्णकटु लगती है।

किसी के आदेय नामकर्म का उदय है तो उसकी हर सच्ची-झूठी बात सबके द्वारा स्वीकार कर ली जाती है, तो किसी के अनादेय नामकर्म का उदय होने से, उसकी सच्ची बात की भी उपेक्षा की जाती है, कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता है।

किसी के शातावेदनीय कर्म का उदय है तो वह दुर्घटना होने पर भी बच जाता है और किसी के अशाता का उदय है तो वह बिना किसी निमित्त के भी बीमार हो जाता है।

कर्म की इस विचित्रता के विविध परिणाम हमें इस दुनिया में चारों ओर दिखाई देते हैं।

संसारी जीवों की यह सब विविधता कर्म की आभारी है। वास्तव में, यह आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय है।

द्रव्य दृष्टि से इस संसार में रही सभी आत्माएँ एक समान हैं। **आचारांग सूत्र** में जो **'एगे आया'** सूत्र है, वह द्रव्य दृष्टि से ही विश्व की समस्त आत्माओं की एकता सिद्ध करता है। पर्याय दृष्टि से आत्माएँ भिन्न होने पर भी द्रव्य दृष्टि से सभी आत्माएँ एक अर्थात् एक समान हैं।

अतः हे आत्मन्! जगत् के जीवों की कर्मकृत अवस्था की ओर ध्यान न देकर, उन समस्त जीवों के मूल स्वरूप का चिन्तन कर; उन सब जीवों के प्रति मैत्री भाव धारण कर।

आत्मत्व जाति एक होने से जैसा तेरा स्वरूप है, वैसा ही उन सब आत्माओं का स्वरूप है। भले ही पर्याय दृष्टि से तू मनुष्य है, धनवान है, बुद्धिमान् है, साहूकार है और वह तिर्यंच है, बीमार है, गरीब है—इत्यादि।

जैसे किसी नाट्यमण्डली में काम करने वाले दो सगे भाई भी जब नाटक करते हैं, तब एक राजा का पात्र भजता है तो एक सेवक का।

नाटक में राजा और सेवक का पात्र भजने पर भी वास्तव में तो वे सगे भाई ही हैं, उसी प्रकार इस संसार की रंगभूमि पर कर्म सत्ता के अधीन बनी सभी आत्माएँ विविध पात्रों के रूप धारण करती हैं, परन्तु वास्तव में, उनका स्वरूप तो एक समान है।

इस प्रकार का चिन्तन कर जगत् के सर्व जीवों के प्रति तू मैत्री भाव को धारण कर। □

सर्वे ते प्रियबान्धवाः ,

न हि रिपुरिह कोऽपि ।

मा कुरु कलिकलुषं मनो ,

निजसुकृतविलोपि ।। विनय० १८० ।।

अर्थ—ये सब तुम्हारे प्रिय बन्धु हैं, इनमें कोई तुम्हारा दुश्मन नहीं है। कलह से कलुषित मन सुकृत का लोप करने वाला होता है (अतः अपने मन को कलुषित मत करो) ।। १८० ।।

विवेचन

मन को कलुषित मत करो

हे आत्मन् ! इस संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब तेरे प्रिय बान्धव हैं, उनमें एक भी जीव वास्तव में तेरा शत्रु नहीं है।

वर्तमान में तुझे कोई व्यक्ति शत्रु प्रतीत हो रहा है, तो यह तेरी द्वेष भावना का ही फल है। अथवा कोई व्यक्ति तुझ पर शत्रुता धारण कर रहा है, तो यह उसकी द्वेष भावना का तथा तेरे पापोदय का ही फल है।

राग और द्वेषजन्य अवस्थाएँ वास्तविक नहीं हैं, वे तो कर्मकृत हैं। जिस पर रेगिस्तान की मरुभूमि में गर्मी के दिनों में जब गर्म हवा (लू) चलती है, तब दूर से वहाँ जल बहता हुआ दिखाई देता है, परन्तु वहाँ निकट जाने पर जल की एक बूंद भी हमें नहीं मिल पाती है, क्योंकि वहाँ वास्तव में जल नहीं है, किन्तु

जल का आभास मात्र है। उसी प्रकार इस संसार में यदि कोई हमें शत्रु प्रतीत हो रहा है, तो यह भी हमारी दृष्टि का ही दोष है।

जिस प्रकार माइक्रोस्कोप से छोटी वस्तु भी बड़ी दिखाई देती है, परन्तु दिखने मात्र से वह वस्तु बड़ी नहीं हो जाती है। उसी प्रकार हे आत्मन्! किसी भी व्यक्ति को शत्रु मानना, यह तो तेरी भ्रमबुद्धि है, कल्पना है। वास्तव में, तो वह जातीय बन्धु है, मित्र है।

तू अपने मित्र के प्रति द्वेष भाव धारण कर अपने पुण्य को भस्मीभूत करने वाले पाप का आचरण मत कर। किसी भी व्यक्ति पर द्वेषभाव धारण करने से अपना मन कलुषित बनता है और कलुषित मन अपने सुकृतों का नाश करता है।

हे आत्मन्! तूने बड़ी कठिनाई से तो सुकृत/पुण्य का संचय किया है, मन के कालुष्य के द्वारा तू उसे नष्ट मत कर।

बड़ी कठिनाई से तूने विशाल भवन का निर्माण किया है, अब एक ईंट की आवश्यकता के लिए तू इस भवन को गिराने के लिए उद्यत हुआ है, यह तेरी कैसी मूर्खता है?

बस, इसी प्रकार तूने बड़ी कठिनाई से पुण्य का सर्जन किया है, उसे तू व्यर्थ ही नष्ट मत कर। □

यदि कोपं कुरुते परो,
निजकर्मवशेन ।
अपि भवता किं भूयते,
हृदि रोषवशेन ।। विनय० १८१ ।।

अर्थ—यदि कोई अपने कर्म के वशीभूत होकर क्रोध करता है, तो तुम हृदय में क्रोध के वशीभूत क्यों बनते हो ? ।। १८१ ।।

विवेचन

किसी पर क्रोध मत करो

हे आत्मन् ! यदि कोई व्यक्ति तुझ पर क्रोध करता है, तो तू पुनः उस पर क्रोध मत कर। यदि कोई व्यक्ति अपने कषाय के उदय से तुझ पर गुस्सा करता है, तो तू उस समय यह विचार कर—

(१) कि यह व्यक्ति मुझ पर गुस्सा कर रहा है, इसमें किसका दोष है ? यदि तेरी भूल के कारण वह व्यक्ति तुझ पर गुस्सा कर रहा है, तो इसमें तुझे नाराज होने की क्या आवश्यकता है, तुझे अपनी भूल स्वीकार करनी ही चाहिये।

(२) यदि तूने कोई अपराध नहीं किया है, तो भी तुझे गुस्सा करने की क्या आवश्यकता है ? निरपराध को डरने की क्या जरूरत है ? आखिर तो 'सत्य की ही जीत होती है। 'सत्यमेव जयते' इस वचन पर विश्वास कर और गुस्सा करने में जल्द-बाजी मत कर।

(३) वह व्यक्ति गुस्सा करके स्वयं का ही नुकसान कर रहा है, तो फिर तू गुस्सा करके अपना नुकसान क्यों करता है ?

(४) गुस्सा तो कषायोदय का कारण है। जब पाप का उदय होता है, तभी व्यक्ति क्रोध के अधीन बनता है, वह व्यक्ति तो गुस्सा करके अपने पापोदय के फल को भोग रहा है। तू क्यों गुस्सा करके अपने पाप को उदय में ला रहा है ?

(५) क्रोध करने वाला व्यक्ति स्वयं का ही नुकसान कर रहा है। 'मैं भी गुस्सा करके अपना नुकसान क्यों करूं ?'

(६) क्रोध आत्मा की विकृत अवस्था है। क्रोध करने से आत्मा के स्वभाव गुण की हानि होती है। 'मैं व्यर्थ ही गुस्सा करके अपनी आत्मा को विकृत क्यों करूँ ?'

(७) क्रोध करने से आँखें गर्म हो जाती हैं, मुँह लाल हो जाता है। शारीरिक तनाव बढ़ जाता है। 'मैं गुस्सा करके अपने स्वास्थ्य का नुकसान क्यों करूँ ?'

(८) क्रोध करने से आत्मा नवीन कर्मों का बन्ध करती है और नवीन कर्मों के बन्ध से आत्मा अपना ही अनर्थ करती है। अतः किसी के गुस्सा करने पर यह विचार करना चाहिए कि 'मैं गुस्सा करके अपनी आत्मा को कर्मबंधन से ग्रस्त क्यों करूँ ?'

(९) यदि इस क्रोध के प्रसंग में मैं समता रखूंगा, तो स्वतः उस व्यक्ति को अपनी भूल ख्याल में आने पर पश्चात्ताप होगा।

(१०) क्रोध के प्रसंग में भी यदि मैं क्रोध नहीं करूंगा तो 'मैं समता की साधना में आगे बढ़ सकूँगा और मेरे कर्मों की भी निर्जरा होगी।'

(११) क्रोध के प्रसंग में शान्ति रखने पर व्यक्ति लोकप्रिय बनता है। ऐसे शान्त व्यक्ति से सभी प्रेम करना चाहते हैं।

इस प्रकार क्रोध के प्रसंग में, क्रोध से होने वाले नुकसानों

का विचार किया जाय तो व्यक्ति अवश्य ही क्रोध कषाय से बच सकता है और अपनी आत्म-हानि को रोककर आत्म-लाभ प्राप्त कर सकता है। □

अनुचितमिह कलहं सतां,
त्यज समरसमीन।
भज विवेककलहंसतां,
गुणपरिचयपीन ।। विनय० १८२ ।।

अर्थ—हे समत्वरस के मीन! सज्जनों के लिए कलह अनुचित है, अतः तू उसका त्याग कर। सद्गुण के परिचय से पुष्ट बने हे चेतन! विवेक की कलारूप हंसता को भज। (अर्थात् हंस की तरह विवेकी बन) ।। १८२ ।।

विवेचन

कलह का त्याग करो

हे आत्मन्! सज्जन व्यक्ति के लिए कलह करना उचित नहीं है। कलह और क्लेश से आत्मा के परिणाम बिगड़ते हैं और आत्मा दुर्ध्यान करती है। दुर्ध्यान से दुष्कर्म का बन्ध होता है और दुष्कर्म से आत्मा की दुर्गति होती है। अतः हे आत्मन्! तू समतारस का पान कर। समत्व की साधना से आत्मा अल्पकाल में ही कर्मबन्धन से मुक्त बन जाती है। ममत्व के कारण कलह पैदा होती है और समत्व के कारण मैत्री पैदा होती है।

ममता कर्मबन्धन का हेतु है।
समता कर्ममुक्ति का मार्ग है।
कलह कर्मबन्धन का हेतु है।
मैत्री कर्म-मुक्ति की हेतु है।

मानसरोवर के हंस की यह विशेषता होती है कि जल-मिश्रित दूध देने पर भी वह जल और दूध का भेद कर देता है। उसकी चोंच में यह विशेषता होती है कि वह दूध का पान कर लेता है और जल को छोड़ देता है।

हे आत्मन्! तू मानसरोवर के हंस की तरह विवेक को धारण कर; उस विवेक के द्वारा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विचार कर और कलह का त्याग कर, समतारस का पान कर। इस हेतु तू गुणवान व्यक्तियों का संग कर। गुणवानों के संग से अपनी आत्मा में भी गुण का रंग आता है और आत्मा गुणों से पुष्ट बनती है।

हे आत्मन्! गुण के परिचय/संग से पुष्ट बनकर तू विवेक को धारण कर। उस विवेक को धारण कर तू ममता का त्याग कर, कलह-वृत्ति का त्याग कर और समतारस का पान कर। समत्व के आसेवन से हे आत्मन्! तू कर्म के बन्धन से मुक्त हो सकेगा।

विवेकी व्यक्ति कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का भेद कर सकता है और कर्त्तव्य का आचरण और अकर्त्तव्य का त्याग कर सकता है। अतः हे आत्मन्! तू विवेक को धारण कर, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भेद कर, उन्मार्ग का त्याग कर और सन्मार्ग का आचरण कर। □

शत्रुजनाः सुखिनः समे ,
मत्सरमपहाय ।
सन्तु गन्तुमनसोऽप्यमी ,
शिव - सौख्यगृहाय ।। विनय० १८३ ।।

अर्थ—मत्सर भाव का त्याग कर सभी शत्रुजन भी सुखी बनें और शिव सुख के गृह रूप मुक्ति-पद की प्राप्ति के लिए इच्छुक बनें ।। १८३ ।।

विवेचन

सभी आत्माएँ सभी की हितैषी बनें

हे आत्मन् ! तू इस प्रकार की भावना कर कि इस दुनिया में जो शत्रुजन हैं, वे भी अपनी शत्रुता/मत्सर भाव का त्याग कर सुखी बनें ।

मत्सर भाव-ईर्ष्या भाव व्यक्ति को दुःखी करता है । ईर्ष्या ऐसी आग है, जो अन्तःकरण को जलाती है । ईर्ष्या की आग से सन्तप्त बनी आत्मा, अपने सुकृतों का लोप करती है, और पुण्य को समाप्त करती है ।

उन शत्रुजनों के हृदय में भी मुक्ति पाने की भावना जागृत हो और वे भी मुक्ति पाने के लिए उत्कण्ठित बनें । इस प्रकार की शुभ भावना के भावन से आत्मा में शुभ भाव पैदा होता है और आत्मा क्रमशः शुद्ध बनती जाती है ।

स्व-सुख की प्राप्ति की इच्छा तो जगत् में सर्व प्राणियों के

हृदय में है, परन्तु सर्व के सुख की इच्छा करने वाले विरल ही होते हैं। स्व सुख की इच्छा स्वार्थवृत्ति है, सर्व-सुख की इच्छा परार्थवृत्ति है।

जब हृदय में शत्रु के कल्याण की कामना पैदा होती है, तब आत्मा का वास्तविक विकास होता है। शत्रु के कल्याण की भावना होना सरल बात नहीं है। द्वेष भाव इस प्रकार की भावना में बाधक है। जब हृदय में द्वेष की मन्दता होती है, तभी अन्य (शत्रु) के कल्याण की कामना पैदा हो सकती है।

शास्त्र में भी कहा है—**'भावना भवनाशिनी'**। सर्व जीवों के प्रति मैत्री आदि भावनाओं के भावन से अपनी आत्मा का परिभ्रमण टलता है।

दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व महाराजा गुणसेन ने 'रात्रि प्रतिमा' स्वीकार की थी और उसी रात्रि में देव बने अग्निशर्मा (विद्युत् कुमार) ने गर्मागर्म रेती की वृष्टि कर गुणसेन राजा पर मरणान्त उपसर्ग किया था। इस मरणान्त उपसर्ग में भी गुणसेन महाराजा ने सर्व जीवों के प्रति मैत्री भावना से अपनी आत्मा को भावित किया था और इसके साथ 'अग्निशर्मा' को याद कर विशेषकर उससे क्षमायाचना की थी। अग्निशर्मा ने गुणसेन राजा को अपना दुश्मन माना, परन्तु गुणसेन महाराजा ने अग्निशर्मा को अपना दुश्मन नहीं माना, बल्कि मित्र ही माना।

शत्रु के प्रति भी मैत्री भाव को धारण करने से गुणसेन की आत्मा ने अल्प भवों में ही अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया

और अग्निशर्मा की आत्मा ने गुणसेन राजा के प्रति द्वेष भाव को धारण कर अपनी आत्मा का अनन्त संसार बढ़ा लिया।

मैत्री आदि भावना के भावन में न तो धन का खर्च है और न ही काया कष्ट है। बस, एक मात्र विचारों की उदारता धारण करनी है। इस प्रकार संकीर्ण विचारों की दरिद्रता का त्याग करने से और शत्रु आदि के भी कल्याण की कामना से अपनी आत्मा अल्प काल में ही शुद्ध बनने लगती है। □

सकृदपि यदि समतालवं,
हृदयेन लिहन्ति।
विदितरसास्तत इह रतिं,
स्वत एव वहन्ति॥ विनय० १८४॥

अर्थ—एक बार भी प्राणी यदि समता के सुख का आस्वादन कर लेता है, तो फिर उस सुख को जानने के बाद स्वतः समत्व-रस की प्रीति पैदा होती है॥ १८४॥

विवेचन

समता के प्रति प्रीति रखो

एक बार मफतलाल सेठ को अपने ससुराल जाना था। वे अपने घर से पैदल ही निकल पड़े, परन्तु मार्ग भूल गए। उन्हें एक ग्रामीण दिखाई दिया। उन्होंने उस ग्रामीण को कहा—"भाई! तू मुझे अमुक गाँव का रास्ता बताएगा? यदि तू मेरे साथ चलेगा तो तुझे····।"

"हाँ ! आप कहाँ जा रहे हैं ?" ग्रामीण ने पूछा।

सेठ ने कहा—"मैं अपने श्वसुरगृह जा रहा हूँ।"

"तो मुझे आप गुड़ की राब खिलाओगे ?"

सेठ ने कहा—"जरूर।"

"अच्छा ! तो मैं आपके साथ चलता हूँ ?" ग्रामीण ने कहा।

मफतलाल सेठ उस ग्रामीण के मार्गनिर्देशानुसार अपने श्वसुर के गाँव पहुँच गए। सेठजी के वहाँ पहुँचने पर उनका भव्य स्वागत किया गया और उनके लिए सुन्दर पकवान युक्त भोजन बनाया गया।

सेठ भोजन करने बैठे। साथ में आए ग्रामीण के लिए भी भोजन का थाल परोसा गया। थाल में गुलाबजामुन, हलवा, बर्फी आदि विविध मिष्ठान्न थे। उस ग्रामीण ने थाल में गुड़ की राब नहीं देखी तो उसको बड़ा गुस्सा आ गया, उसने कहा—"से····ठ····जी ! गुड़ की राब कहाँ है ?"

उसके इस प्रश्न को सुनकर सेठ ने सोचा—"बेचारे ने कभी गुड़ की राब को छोड़ इन मिष्ठान्नों का स्वाद कहाँ चखा है ?" ज्योंही उस ग्रामीण ने बोलने के लिए अपना मुँह खोला—सेठ ने उसके मुँह में एक गुलाबजामुन डाल दिया।

बस ! अब क्या था ?

गुलाबजामुन का स्वाद वह जान गया था। थोड़ी ही देर में उसने वह थाली साफ कर दी।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि समतारस का स्वाद भी ऐसा है, जिसकी एक बार अनुभूति हो जाने के बाद, उसके आस्वादन की इच्छा स्वतः पैदा होती है। प्रशमरस के सुख का आनन्द कुछ अनोखा ही है। इस सुख के अनुभव के बाद व्यक्ति की भौतिक इच्छाएँ मन्द हो जाती हैं। वास्तव में, समतारस एक ऐसा सुख है, जिसका एक बार स्वाद लेने के बाद व्यक्ति कभी उसे छोड़ना नहीं चाहेगा। इस सुख के आस्वादन के लिए हृदय को मैत्री भाव से ओतप्रोत करना अनिवार्य है। सच पूछो तो मैत्री भावना ही समत्व की जननी है। मैत्री भाव के अभाव में हृदय में समता की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सम्यक्ज्ञान से सम्यक् इच्छा पैदा होती है और सम्यक् इच्छा होने पर उसकी प्राप्ति के लिए योग्य पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है, यदि समता के सुख का ज्ञान हो जाय तो उसको पाने की इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी और उसे पाने की तीव्र इच्छा होगी तो उसकी प्राप्ति भी अवश्य होगी। □

किमुत कुमतमदमूर्च्छिताः,
दुरितेषु पतन्ति।
जिनवचनानि कथं हहा,
न रसादुपयन्ति ।। विनय० १८५ ।।

अर्थ—कुमत रूपी मद से मूर्च्छित बनकर प्राणी दुर्गति के गर्त में क्यों पड़ते हैं? वे जिनवचन रूप अमृत रस का प्रेम से पान क्यों नहीं करते हैं? ।। १८५ ।।

विवेचन

जिनवचन रूपी अमृत का पान करो

अहो ! इस संसार में वे जीव दया के पात्र हैं, जिनको जिनवचन श्रवण की सुलभता होने पर भी वे उसका लाभ नहीं उठाते हैं।

सरोवर के निकट होने पर भी कोई प्यासा मर जाय; भोजन होने पर भी कोई भूखा मर जाय; इसी प्रकार जिनवाणी के श्रवण की सुलभता मिलने पर भी जो आत्माएँ उसकी उपेक्षा करती हैं, उन आत्माओं की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय है।

जिनवचन तो अमृतरस के समान हैं, जिनके श्रवण से आत्मा की अनादि की तृषा शान्त हो जाती है। जिनवाणी के श्रवण से ही संसार की वास्तविक स्थिति का बोध होता है।

लोहखुर चोर ने अपने पुत्र रोहिणेय को महावीर वाणी का श्रवण नहीं करने की प्रतिज्ञा कराई थी। रोहिणेय चोर अपनी प्रतिज्ञा पर अटल था और कभी भी महावीर वाणी का श्रवण नहीं करता था। एक बार वह राजगृही की ओर जा रहा था, मार्ग में भगवान महावीर समवसरण में बैठकर देशना दे रहे थे। रोहिणेय ने अपने कानों में अंगुली डाल ली और वह चल पड़ा। परन्तु चलते हुए उसके पैर में एक तीक्ष्ण कांटा चुभ गया, उस कांटे को निकालने के लिए उसने एक कान पर से एक हाथ हटाया और उसी बीच प्रभु की वाणी उसके कानों में पड़ी। प्रभु उस समय देवों के स्वरूप का वर्णन कर रहे थे। रोहिणेय को अनचाहे

वह वाणी सुननी पड़ी। परन्तु उस वाणी ने उसे मौत के मुँह में जाने से बचा दिया। उसे फँसाने के लिए अभयकुमार ने षड्यंत्र रचा था, परन्तु प्रभु महावीर की वाणी के कारण उस जाल में से वह बच गया।

इसके बाद उसने सोचा 'अनचाहे भी मैंने प्रभु महावीर को वाणी सुनी····और उसने मेरे प्राण बचा दिए····यदि मैं उनके प्रति पूर्ण समर्पित बन जाऊँ तो····अवश्य ही इस भवसागर से तिर जाऊँगा'····और उसने प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण कर अपनी आत्मा का कल्याण कर लिया।

प्रभु की वाणी अमृतवाणी है। शास्त्र में कहा गया है— प्रभु की वाणी के श्रवण से छह मास की भूख और प्यास भी शान्त हो जाती है। आत्मा के समस्त सन्देहों को छेदने वाली यह जिनवाणी है।

जिनवाणी का भावपूर्वक पान करने वाली आत्मा अल्पभवों में ही भव-सागर से पार हो जाती है।

अपूर्व महिमा है जिनवाणी श्रवण की। भोगी को योगी और शैतान को सन्त बनाने वाली यह जिनवाणी है।

किन्तु कुमत मद की मदिरा का पान करने वाले इस जिनवाणी के अमृत का पान नहीं कर पाते हैं और वे कुमत की मदिरा का पान कर अपनी आत्मा को दुर्गति के गर्त में धकेल देते हैं।

बेचारी वे आत्माएँ दया की पात्र हैं, जो अमृत का त्याग कर कुमत मत की मदिरा का पान कर रही हैं। □

परमात्मनि विमलात्मना ,
परिणम्य वसन्तु ।
विनय समामृतपानतो ,
जनता विलसन्तु ।। विनय० १८६ ।।

अर्थ—हे विनय ! (तू यह चिन्तन कर) निर्मल आशय वाले जीवों के मन परमात्म-स्वरूप में मग्न बनें तथा जगत् के प्राणी समता रूपी अमृत रस का पान कर सदा सुखी बनें ।। १८६ ।।

विवेचन

जगत् के सभी जीव सुखी बनें

हे आत्मन् ! तू इस प्रकार की भावना से अपनी आत्मा को भावित कर कि सभी निर्मल आत्माओं के हृदय में परमात्मा का वास हो ।

जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, अर्थात् जो निरन्तर परमात्मा का ध्यान करता है, उसके हृदय में मलिन भावनाएँ/वासनाएँ पैदा ही नहीं होती हैं । वह आत्मा, परमात्म-स्वरूप के ध्यान से परमात्ममय बन जाती है ।

आत्मा अपने उपयोग के अनुसार तदाकार रूप में परिणत होती है । अशुभ/अशुद्ध वस्तु के चिन्तन से अपनी आत्मा भी अशुद्ध व अपवित्र बनती है और सर्वकर्ममल से मुक्त परमात्मा के ध्यान से अपनी आत्मा भी निर्मल स्वरूप को प्राप्त होती है ।

इस विश्व में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व तारक तीर्थंकर परमात्मा ही हैं। उनके ध्यान में तन्मय बनने से अपनी आत्मा भी निर्मल स्वरूप को प्राप्त करती है।

एक बार महान् साहित्यकार टॉलस्टॉय किसी गरीब की झोंपड़ी में पहुँचे। उस झोंपड़ी में खड़े एक व्यक्ति से उन्होंने पूछा—'यह किसका घर है ?'

उसने कहा—'एक धनी का।'

जवाब सुनकर टॉलस्टॉय को बड़ा आश्चर्य हुआ—'धनी का घर और ऐसा जीर्ण शीर्ण ?' उसने कहा—'यह कैसे ?'

उस व्यक्ति ने कहा—'जिस झोंपड़ी में विश्व के महान् साहित्यकार टॉलस्टॉय खड़े हैं, वह घर गरीब का कैसे हो सकता है ?'

यह जवाब सुनकर टॉलस्टॉय प्रसन्न हो गए और उन्होंने उस गरीब का दारिद्र्य दूर कर दिया।

बस, इसी प्रकार जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, उसके जीवन में दीनता/हीनता की भावना कैसे आ सकती है !

जिसके हृदय में परमात्मा का वास है, वह व्यक्ति तो विश्व में सबसे अधिक धनाढ्य है।

हे आत्मन् ! इस संसार में जितनी भी निर्मल आत्माएँ हैं, उन सबके हृदय में परमात्मा का वास हो और वे सब समता रूपी अमृत का पान कर सदा सुख में लीन बनी रहें। ☐

14

प्रमोद भावना

धन्यास्ते वीतरागाः क्षपकपथगतिक्षीणकर्मोपरागा–
स्त्रैलोक्ये गन्धनागाः सहजसमुदितज्ञानजाग्रद्विरागाः ।
अध्यारुह्यात्मशुद्ध्या सकलशशिकलानिर्मलध्यानधारा-
मारान्मुक्तेः प्रपन्नाः कृतसुकृतशतोपार्जिताईन्त्य–
लक्ष्मीम् ।। १८७ ।।

(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ—क्षपकश्रेणि के द्वारा जिन्होंने कर्म-शत्रुओं को नष्ट कर दिया है, साहजिक और निरन्तर उदय प्राप्त ज्ञान से जागृत वैराग्यवन्त होने से त्रिलोक में जो गन्धहस्ती के समान हैं, ऐसे वीतराग परमात्मा, जो अपनी आत्मशुद्धि से चन्द्रकला के समान निर्मल ध्यान धारा पर आरूढ़ होकर, पूर्वकृत सुकृतों से उपार्जित तीर्थंकर पदवी को प्राप्त कर मोक्ष के निकट जा रहे हैं, वे धन्य हैं ।। १८७ ।।

विवेचन

तीर्थंकर परमात्मा धन्य हैं

इस भीषण संसार में आत्मगुणों के विकास के लिए

गुणानुराग/प्रमोद भावना अनिवार्य है। गुण के अनुराग बिना आत्मगुणों का विकास सम्भव नहीं है। परन्तु इस संसार में 'ईर्ष्या' एक ऐसा तत्त्व है, जो जीवात्मा के गुणानुरागी बनने में अत्यन्त बाधक है। ईर्ष्यालु व्यक्ति पर के उत्कर्ष को सहन नहीं कर पाता है।

व्यक्ति को जितना आनन्द स्व-प्रशंसा, स्व-मान और स्व-कीर्ति के श्रवण आदि में आता है, उतना आनन्द उसे अन्य की प्रशंसा आदि सुनने में नहीं आता है। इस सन्दर्भ में एक घटना याद आ जाती है।

• किसी नगर में हरिशंकर नामक व्यक्ति रहता था। उसकी स्थिति अत्यन्त सामान्य थी। नगर के बाहर किसी चमत्कारी यक्ष का मन्दिर था। हरिशंकर ने सोचा—"बड़ी कठिनाई से दिन गुजर रहे हैं, तो क्यों न मैं उस यक्ष को प्रसन्न करूँ ?" ऐसा विचार कर वह पूजा की सामग्री लेकर यक्षमंदिर में चला गया। उसने अत्यन्त भक्तिपूर्वक यक्ष की पूजा की। इस प्रकार वह निरन्तर ७ दिन तक उस यक्ष की पूजा करता रहा।

सातवें दिन यक्ष प्रसन्न हो गया। यक्ष ने कहा—"तुम्हारी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी, परन्तु तुम्हें जितना मिलेगा, उससे दुगुना तुम्हारे पड़ोसी 'रविशंकर' को मिलेगा।"

रविशंकर की बात सुनकर हरिशंकर विचार में पड़ गया—"अहो ! उसे मुझ से दुगुना ?"

संसार की यह कितनी विचित्रता है ! उसे स्व सुख में जितना आनन्द है, उतना अन्य के सुख में नहीं है।

हरिशंकर के दिल में रविशंकर के प्रति ईर्ष्या पैदा हो गई, परन्तु वह कर भी क्या सकता था। उसने यक्ष की बात स्वीकार कर ली।

घर आकर उसने अपने नवीन भवन के निर्माण के लिए यक्ष से प्रार्थना की। तत्काल यक्ष ने उसके लिए एकमंजिले भवन का निर्माण कर दिया····और इसके साथ ही रविशंकर के लिए दो मंजिला भवन भी तैयार कर दिया।

हरिशंकर ने अपने लिए एक हजार मोहरें मांगी, उसी समय उसे हजार सोना मोहरें····मिल गईं, परन्तु रविशंकर को उससे दुगुनी मिल गईं।

इस प्रकार रविशंकर को हर वस्तु दुगुनी-दुगुनी मिलने से हरिशंकर का मन ईर्ष्या से जलने लगा।

ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य के उत्कर्ष को देखकर बहुत जलता है। वह अपने दुःख को सहन कर लेगा, किन्तु अन्य के उत्कर्ष को सहन नहीं कर पाता है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपना थोड़ा नुकसान करके भी अन्य का बड़ा नुकसान करना चाहता है। हरिशंकर ने यक्ष से प्रार्थना की कि 'मेरे घर के सामने एक कुआ खोदा जाय।' तत्काल यक्ष ने उसके घर के सामने एक कुआ खोद दिया और पड़ोसी रविशंकर के घर के सामने दो कुए खोद दिए।

फिर उसने यक्ष से प्रार्थना की—"मेरी एक आँख फोड़ दी जाय।" यक्ष ने उसकी एक आँख फोड़ दी और इसके साथ ही रविशंकर की दोनों आँखें फोड़ दी।

खुद काना बन गया, परन्तु उसे इस बात का अधिक दुःख नहीं था, किन्तु पड़ोसी अन्धा हो गया, इस बात का उसे अत्यन्त हर्ष था। थोड़ी देर बाद अन्धा रविशंकर ज्योंही अपने घर से बाहर निकला, वह कुए में गिर पड़ा।

रविशंकर का जीवन-दीप बुझ गया, परन्तु इससे हरिशंकर को अत्यन्त ही आनन्द हुआ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य को दुःखी देखकर ही सुख पाता है।

प्रमोद भावना का मुख्य विषय है—अन्य के गुण को देखकर, अन्य के सुख आदि को देखकर प्रसन्न बनना।

अन्य के गुण देखकर वही व्यक्ति प्रसन्न बन सकता है, जिसमें गुणानुराग हो, जिसके हृदय में प्रमोद भावना विकसित बनी हो।

गुणानुराग एक ऐसा चुम्बक है, जो दूर रहे गुण को खींचकर निकट ले आता है।

गुणानुरागी ही गुणवान बन सकता है। गुणवान बनने के लिए गुणानुरागी बनना अनिवार्य है।

आज गुण-प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयत्न करता है, परन्तु गुणानुरागी बनने के लिए नहीं। इसका यही फल होता है कि या तो व्यक्ति गुण प्राप्त ही नहीं कर पाता है अथवा गुणाभास में गुण की कल्पना कर बैठता है।

जब तक दोषदृष्टि है, तब तक गुणानुरागी बनना सम्भव

नहीं है, गुणानुरागी बनने के लिए गुणदृष्टि का विकास अनिवार्य है।

एक बार कृष्ण महाराजा ने युधिष्ठिर को कहा—"जाओ! इस नगर में जितने भी खराब व्यक्ति हैं, उनके नाम लिखकर लाओ।" युधिष्ठिर कागज और कलम लेकर चल पड़े।

थोड़ी देर बाद कृष्ण महाराजा ने दुर्योधन को कहा—'जाओ! इस नगर में जितने अच्छे व्यक्ति हैं, उनके नाम लिखकर ले आओ।'

युधिष्ठिर पूरे नगर में घूमे, परन्तु कहीं भी उन्हें एक भी व्यक्ति खराब नजर नहीं आया। सभी व्यक्तियों में उन्हें कोई-न-कोई गुण दिखाई देता, इस कारण वे एक भी व्यक्ति का नाम नहीं लिख पाए। उनका कागज वैसा ही कोरा था।

दुर्योधन भी नगर में घूमा, परन्तु दोष-दृष्टि के कारण उसे एक भी व्यक्ति अच्छा या गुणवान नजर नहीं आया। हर व्यक्ति में उसे कोई-न-कोई दोष नजर आ जाता, इस कारण उसने भी किसी व्यक्ति का नाम नहीं लिखा।

दूसरे दिन युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों राजसभा में उपस्थित हुए, परन्तु दोनों के कागज कोरे देखकर कृष्ण महाराजा के आश्चर्य का पार न रहा।

उन्होंने यही निर्णय किया कि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है, उसे वह वस्तु वैसी ही दिखाई देती है। गुणदृष्टि वाले को सर्वत्र गुण ही दिखाई देते हैं और दोषदृष्टि वाले को सर्वत्र दोष ही दिखाई देते हैं।

'पंचसूत्र' में कहा गया है —'अन्य के सुकृत की अनुमोदना करने से, उनके गुणों के प्रति प्रमोदभाव धारण करने से अपनी भवितव्यता का परिपाक होता है अर्थात् आत्मा में मुक्ति-गमन की योग्यता प्रगट होती है।'

यह प्रमोदभाव जगत् में रहे हुए समस्त गुणवान जीवों के प्रति होना चाहिये।

ग्रन्थकार महर्षि 'प्रमोद भावना' के प्रारम्भ में सर्वप्रथम सर्वगुण सम्पन्न और सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति के भोक्ता तीर्थंकर परमात्मा के गुणों का कीर्त्तन करते हुए फरमाते हैं कि क्षपकश्रेणि पर चढ़कर कर्मों का क्षय करने वाले तीर्थंकर भगवन्तों की जय हो।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों के क्षय और उपशमन के लिए क्रमशः क्षपकश्रेणि और उपशमश्रेणि है। क्षपकश्रेणि के द्वारा आत्मा उन घातिकर्मों का मूल से क्षय करती है और एक बार उन घातिकर्मों का क्षय हो जाने के बाद आत्मा पुनः उन कर्मों को नहीं बाँधती है, जबकि उपशमश्रेणि के द्वारा आत्मा कर्मों का मात्र उपशमन करती है। इस उपशमश्रेणि का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। उस अन्तर्मुहूर्त काल की समाप्ति के बाद आत्मा उस उपशमश्रेणि से नीचे उतर आती है और पुनः उन कर्मों का बन्ध प्रारम्भ कर देती है। उपशान्त वीतराग बनी आत्मा कुछ देर के बाद पुनः रागी बन जाती है, जबकि क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर आत्मा ने जिन कर्मों का क्षय कर दिया है, वह आत्मा उन कर्मों का पुनः बंध नहीं करती है। क्षपकश्रेणिगत

आत्मा मोहनीयादि कर्मों का क्षय कर पूर्ण वीतराग बन जाती है।

वीतराग बन जाने के बाद उस महान् आत्मा को संसार के पदार्थों के प्रति न तो राग होता है और न ही द्वेष।

ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाने से वे परमात्मा सर्वज्ञ बन जाते हैं। उन्हें जगत् के समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायों का साक्षात् ज्ञान होता है। वे सम्पूर्ण जगत् को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं।

ऐसे वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा को धन्य हो, जो अपने निर्मल ज्ञान के द्वारा भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग प्रदर्शित करते हैं।

तीर्थंकर परमात्मा को 'शक्र-स्तव' के अन्तर्गत 'गन्धहस्ती' की उपमा दी गई है। जिस प्रकार गन्धहस्ती के आगमन के साथ अन्य हस्ती दूर-सुदूर पलायन कर जाते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर परमात्मा जहाँ-जहाँ विचरते हैं, वहाँ से मारी, मरकी, रोग, शोक, दुष्काल आदि सभी उपद्रव दूर हो जाते हैं।

तीर्थंकर परमात्मा को जन्म से ही साहजिक वैराग्य होता है। पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म निकाचित करने के बाद जब वे देव के भव में होते हैं, तब देवलोक की दिव्य समृद्धि में भी उनकी आत्मा जल-कमलवत् सर्वथा अलिप्त रहती है। संसार के दिव्य सुखों में उन्हें लेश भी राग नहीं होता है। अन्तिम भव में ही धन-धान्य व राज्य समृद्धि से समृद्ध होने पर भी उनका मन वैराग्यरंग से इतना अधिक रंजित होता है कि भोगावली कर्म के उदय से संसार के दिव्य सुख भोगते हुए भी

वे लेश भी कर्म का बन्ध नहीं करते हैं, बल्कि उन कर्मों की निर्जरा ही करते हैं, अर्थात् उनके जीवन में ज्वलन्त वैराग्य होने से वे हर प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों की निर्जरा ही करते हैं।

दीक्षा अंगीकार करने के बाद जब परमात्मा ध्यान में लीन बनते हैं, तब उनकी ध्यान-साधना भी अपूर्व होती है। वे घंटों निरन्तर ध्यान में लीन रहते हैं।

भयंकर उपसर्गों में भी वे अपनी ध्यान-धारा से चलित नहीं होते हैं।

संगमदेव ने एक ही रात्रि में भगवान महावीर पर भयंकर उपसर्ग बीस बार किए थे ...यहाँ तक कि उसने प्रभु पर 'कालचक्र' भी फेंक दिया था....परन्तु फिर भी वह देव भगवान महावीर को ध्यान से चलित नहीं कर सका।

भगवान महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के बाद १२½ वर्ष तक त्याग-तप और ध्यान की साधना की। इन १२½ वर्षों में भगवान महावीर एक अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण ही निद्राधीन (प्रमादावस्था) रहे, शेष समस्त काल उन्होंने शुभ-ध्यान में बिताया था।

निर्मल शुक्लध्यान की धारा पर आरूढ़ होकर जब परमात्मा ने समस्त घातिकर्मों का क्षय कर दिया, उसके साथ पूर्व के तीसरे भव में उपार्जित 'तीर्थंकर नामकर्म' उदय में आ गया। इस नामकर्म के प्रभाव से परमात्मा के ३४ अतिशय और उनकी वाणी के ३५ अतिशय प्रगट हो गए हैं।

अमृतपान के समान उस वाणी का श्रवण करते ही आत्मा तृप्त बन जाती है। छह माह की भूख-प्यास शान्त हो जाती है। उनकी वाणी में ऐसा अतिशय होता है कि सभी जीव अपनी-अपनी भाषा में प्रभु की वाणी को समझ जाते हैं। आजन्म वैरी प्राणी भी अपने समस्त वैर-भावों को भूलकर एक मित्र की भाँति पास-पास में बैठ जाते हैं।

ऐसे अनन्त गुणों के स्वामी तीर्थंकर परमात्मा का हम क्या गुणकीर्तन करें? बृहस्पति भी उनके समस्त गुणों का कीर्तन करने में समर्थ नहीं है।

ऐसे अनन्तज्ञान व शक्ति के पुञ्ज, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, तीर्थंकर परमात्मा के समस्त सुकृतों की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं। ☐

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनु - गुणगणैर्निर्मलात्मस्वभावै-
र्गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णास्पदानि।
धन्यां मन्ये रसज्ञां जगति भगवतस्तोत्रवाणीरसज्ञा-
मज्ञां मन्ये तदन्यां वितथजनकथां
कार्यमौखर्यमग्नाम् ।। १८८ ।।
(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ—कर्मक्षय से उत्पन्न अनेक गुणों के समूह वाले, निर्मल आत्म-स्वभाव द्वारा परमात्मा की स्तवना में तल्लीन परिणति द्वारा बारम्बार प्रभु के गुणगान करके, आठ वर्ण के उच्चार स्थानों को हम पवित्र करते हैं तथा जगत् में भगवन्त के स्तोत्र वाणी के रस को जानने वाली जीभ को मैं रसज्ञा (जीभ) कहता हूँ,

शेष लोककथा के कार्य में वाचाल बनी जीभ को मैं जड़ ही समझता हूँ ।। १८८ ।।

विवेचन

जीभ की सफलता किसमें ?

घातिकर्मों के क्षय से परमात्मा में अनेक गुणों का आविर्भाव हुआ है। उन समस्त गुणों का कथन या वर्णन इस लेखनी द्वारा अशक्य/असम्भव है। कोई केवलज्ञानी भी तीर्थंकर परमात्मा के समस्त गुणों का वर्णन करने में असमर्थ है, तो फिर अपनी तो ताकत ही क्या है ?

कलिकालसर्वज्ञ जैसे महर्षि भी प्रभुस्तवना के लिए अपने आपको पशुतुल्य मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

क्वाहं पशोरपि पशुर्वीतरागस्तव क्व च ?

फिर भी इस जीवन में इस जिह्वा की सफलता परमात्मा के गुण-कीर्तन में ही है। महान् पुण्योदय से हमें इस जिह्वा की प्राप्ति हुई है। जिह्वा तो पशुओं को भी मिली है, परन्तु वे जीभ से एक ही काम करते हैं—खाने का। परन्तु मनुष्य उस जिह्वा के द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकता है।

परमात्मा की गुण-स्तवना से बढ़कर इस जिह्वा का सच्चा सदुपयोग और क्या हो सकता है ?

वाणी के उच्चारण में जिह्वा के साथ-साथ अन्य स्थानों की भी आवश्यकता रहती है। वाणी के उच्चारण-स्थल आठ हैं—कण्ठ, तालु, मूर्धन्, दंत, ओष्ठ, जिह्वा, उर और नासिका।

इन आठ स्थानों से स्वर-व्यंजनों का उच्चारण होता है। ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस जीवन में वाणी के उन आठ उच्चार-स्थलों की सफलता उन अनन्तज्ञानी परमात्मा के गुण-कीर्तन में ही है।

किसी स्तवनकार ने कहा है—

'जे जीभ जिनवर ने स्तवे, ते जीभ ने पण धन्य छे'।

जिस जीभ ने परमात्मा के गुणों का स्तवन नहीं किया, वह जीभ हकीकत में जीभ नहीं है, बल्कि जड़ ही है। अर्थात् वह जीभ व्यर्थ है, जिस जीभ से परमात्मा की स्तवना नहीं होती। □

निर्ग्रन्थास्तेऽपि धन्या गिरिगहनगुहागह्वरान्तर्निविष्टा-
धर्मध्यानावधानाः समरससुहिताः पक्षमासोपवासाः।
येऽन्येऽपि ज्ञानवन्तः श्रुतविततधियो दत्तधर्मोपदेशाः,
शान्ता दान्ता जिताक्षा जगति जिनपतेः शासनं-
भासयन्ति ।। १८९ ।।
(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ—पर्वत, जंगल, गुफा तथा निकुंज में रहते हुए धर्मध्यान में दत्तचित्त रहने वाले, शमरस से सन्तुष्ट, पक्ष और मास (क्षमण) जैसे विशिष्ट तप करने वाले (महामुनियों को) तथा श्रुतज्ञान से विशाल बुद्धि वाले, उपदेशक, शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय बनकर जो प्रभु-शासन की प्रभावना करते हैं, उन निर्ग्रन्थ मुनियों को भी धन्य है ।। १८९ ।।

विवेचन

निर्ग्रन्थ मुनियों को धन्य हो

ग्रन्थकार महर्षि पूर्वोक्त दो गाथाओं में तीर्थंकर परमात्मा के गुणों की अनुमोदना करके अब निर्ग्रन्थ गुरुतत्त्व के सुकृतों की अनुमोदना करते हुए फरमाते हैं कि उन महात्माओं को धन्य हो, जो संसार के समस्त बंधनों से मुक्त बनकर पर्वत, जंगल, गुफा अथवा किसी लतागृह में रहकर आत्मध्यान में लीन बने हुए हैं।

आत्मध्यान में लीन बनने के लिए बहिर्भाव का त्याग अनिवार्य है। बहिर्भाव के त्याग के लिए बाह्य लोकसम्पर्क का भी त्याग हितकर ही है। लोकसम्पर्क का त्याग कर व्यक्ति ज्यों-ज्यों आत्म-तत्त्व के विचार में तल्लीन बनता है, त्यों-त्यों उसकी अन्तर्दृष्टि खुलने लगती है। आत्मध्यान में लीन बनने के लिए गिरि-गुफा आदि एकान्त स्थल सहायक बनते हैं। अपनी आत्मा के परिणाम निमित्ताधीन हैं। शुभ निमित्त के संग से हमारे मन में शुभ विचार/शुभ भाव आते हैं और अशुभ निमित्त के संग से अशुभ भाव। अतः अशुभ भावों से बचने के लिए अशुभ निमित्तों से दूर रहना भी आवश्यक है।

प्राचीन समय में श्रमण-जीवन का अधिकांश भाग गिरि-गुफा व उद्यान में ही व्यतीत होता था, जहाँ उन्हें प्रायः अशुभ निमित्त नहीं मिलते हैं, अतः वे आत्मध्यान में शीघ्र ही तल्लीन बन जाते थे।

स्थूलभद्र महामुनि के चरित्र आदि पढ़ते हैं, तब पता चलता है कि उस समय कई मुनि कुए के घेरे की दीवार पर

कायोत्सर्ग में खड़े रहकर चातुर्मास व्यतीत कर देते थे, कई मुनि सिंह गुफाओं के पास रहकर चातुर्मास व्यतीत करते थे। इस प्रकार अन्तरंग साधना के बल से वे अल्प समय में ही अपना आत्मकल्याण कर लेते थे।

उन महात्माओं को धन्य है, जो सदैव धर्मध्यान में तल्लीन रहते हैं।

अनादिकाल से आत्मा में संसार के सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति द्वेष के तीव्र संस्कार होने के कारण वह आर्त्त और रौद्रध्यान में शीघ्र डूब जाती है।

आर्त्तध्यान अर्थात् स्व-पीड़ा के निवारण और स्व-सुख की प्राप्ति की सतत चिन्ता।

जब तक सांसारिक पदार्थों के प्रति राग और आकर्षण होगा, तब तक आत्मा आर्त्तध्यान के चंगुल से मुक्त नहीं बन सकती।

धर्मध्यान हमें 'पर' से हटाकर 'स्व' की ओर ले जाता है। जिनाज्ञा का चिन्तन, जगत् के सर्व जीवों के सुख की कामना आदि धर्मध्यान है। धर्मध्यान में लीन हुए बिना आर्त्तध्यान का नाश सम्भव नहीं है।

धन्य है उन महात्माओं को, जो आर्त्तध्यान से सर्वथा मुक्त बनकर धर्मध्यान में लीन बने हुए हैं।

धर्मध्यान के साथ-साथ वे महात्मा प्रशमरस में निमग्न भी हैं। वे क्रोध की आग से सर्वथा मुक्त बन चुके हैं। प्रतिकूल प्रसंगों में भी उनकी चित्त-प्रसन्नता वैसी ही बनी रहती है।

क्षमा गुण को उन्होंने इतना आत्मसात् कर लिया है कि भयंकर उपसर्ग और उपद्रव में भी वे अपने स्वभाव से चलित नहीं होते हैं। कोई समुद्र में पत्थर भी फेंकता है, परन्तु इससे समुद्र में खलबलाहट नहीं मचती है, वह तो उस पत्थर को भी अपने में समा लेता है। बस, इसी तरह धीर, गम्भीर महात्मा भी सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में अपनी धीरता-गम्भीरता का त्याग नहीं करते हैं।

प्रशमरस की निमग्नता के साथ-साथ वे महात्मा तपस्वी भी होते हैं। उनके जीवन में नाना प्रकार की तपस्याएँ चालू ही होती हैं। बाह्य और अभ्यन्तर तप की उत्कृष्ट साधना से वे कर्म रूपी मैल को जलाकर भस्मसात् कर देते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी आत्मा में विविध गुणों का आविर्भाव होने लगता है। वे महात्मा कभी मासक्षमण की उग्र तपस्या करते हैं, तो कभी पन्द्रह उपवास····तो कभी छट्ठ, अट्ठम। बाह्य तप की उत्कृष्ट साधना से वे रसना-विजेता और इन्द्रिय-विजेता बन जाते हैं।

तप धर्म की साधना के साथ-साथ वे अपना अधिकांश समय शास्त्र के पठन-पाठन और स्वाध्याय में ही व्यतीत करते हैं। वे शास्त्र के रहस्यों के पारगामी होते हैं।

कहा भी है—'साधवः शास्त्रचक्षुषा'।

वे शास्त्र रूपी चक्षु के बल से जगत् के स्वरूप को देखते हैं और अपने आत्मकल्याण के मार्ग का निश्चय करते हैं।

शास्त्रज्ञान के बल से मोक्ष-मार्ग को जानकर, अन्य भव्य जीवों को भी वे मोक्षमार्ग की प्रेरणा देते हैं। अपनी शान्त,

मधुर और प्रभावक वाणी के द्वारा वे अनेक भव्यात्माओं को मोक्षमार्ग में जोड़ते हैं।

मोक्षमार्ग दिखाकर वे भव्य जीवों पर एक महान् उपकार करते हैं।

वे अत्यन्त शान्त होते हैं। उनकी सौम्य आकृति को देखकर अनेक जीवों के हृदय में उनके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है।

इसके साथ ही वे दान्त होते हैं। अपने मन पर उनका पूर्ण नियंत्रण होता है। मन से वे कभी अशुभ चिन्तन नहीं करते हैं।

इसके साथ ही वे 'जिताक्ष' अर्थात् इन्द्रियविजेता भी होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त गुणों से युक्त महात्माओं से ही यह जिन-शासन शोभता है। ऐसे महात्मा जिनशासन के शृंगार हैं। वे जिनशासन की प्रभावना में अभिवृद्धि करते हैं। □

दानं शीलं तपो ये विदधति गृहिणो भावनां भावयन्ति,
धर्मं धन्याश्चतुर्धा श्रुतसमुपचितश्रद्धयाऽऽराधयन्ति।
साध्व्यः श्राद्धयश्च धन्याः श्रुतविशदधिया
शीलमुद्भावयन्त्य-
स्तान् सर्वान् मुक्तगर्वाः प्रतिदिनमसकृद् भाग्यभाजः
स्तुवन्ति ।। १९० ।।
(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ—जो सुश्रावक दान, शील और तप का आसेवन करते हैं और सुन्दर भावना का भावन करते हैं इस प्रकार ज्ञान से पुष्ट श्रद्धा से चारों प्रकार के धर्म की आराधना करते हैं, तथा जो साध्वोगण और श्राविकाएँ ज्ञान से निर्मल बुद्धि द्वारा शील/सदाचार का पालन करती हैं, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इन सब की हमेशा अनेक बार जो गर्वरहित भाग्यवन्त स्तुति करते हैं, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं ।। १९० ।।

विवेचन

जिनाज्ञापालक श्रावक भी धन्यवाद के पात्र हैं

साधु महात्माओं के सुकृतों की अनुमोदना के बाद अब इस गाथा के द्वारा गृहस्थ श्रावक-श्राविका तथा साध्वीजी म. के सुकृतों की अनुमोदना करते हुए ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि उन श्रावकों को धन्य है जो ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ श्रद्धा के द्वारा दान, शील, तप और भाव धर्म की आराधना करते हैं।

धन्य है **श्रेयांसकुमार** को, जिन्होंने ऋषभदेव प्रभु को इक्षुरस से पारणा कराकर सुपात्रदान का मंगल प्रारम्भ किया था।

धन्य है **धन्ना सार्थवाह** को, जिसने त्यागी महामुनियों को घी बहोरा कर सम्यक्त्व प्राप्त किया था।

धन्य है **मेघरथ राजा** को, जो एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने देह का मांस देने के लिए तैयार हो गए थे।

धन्य है **शालिभद्र** को, जिसने अपने पूर्व भव में क्षीर का सुपात्र दान कर पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन किया था।

धन्य है **भरत** महाराजा और **कुमारपाल** महाराजा को, जिन्होंने अपूर्व साधर्मिक भक्ति की थी।

धन्य है **विजय सेठ** और **सेठानी** को, जिन्होंने गृहस्थ जीवन में रहकर आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया था।

धन्य हो **महामंत्री पेथड़शाह** को, जिन्होंने ३२ वर्ष की भर यौवनवय में आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार किया था।

धन्य है **सुदर्शन सेठ** को, जो परनारी-सहोदर और व्रतधारी महान् श्रावक थे, जिनके शील के प्रभाव से शूली का भी सिंहासन हो गया था....जिनके शील के प्रभाव से अर्जुनमाली भी स्तंभित हो गया था।

धन्य है **जंबुकुमार** को, जिन्होंने लग्न के पूर्व ही ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया था और लग्न की पहली रात्रि में ही अपनी सभी आठ स्त्रियों को प्रतिबोधित कर प्रातः ५२८ के साथ दीक्षा स्वीकार कर ली थी।

धन्य है **धन्ना काकंदी** को, जिन्होंने छट्ठ के पारणे आयम्बिल का उग्र तप किया था। अत्यन्त नीरस और निरीह आहार लेने पर भी वे चढ़ते-परिणामी थे।

धन्य है **ढंढण अणगार** को, जिन्होंने 'स्व-लब्धि से प्राप्त आहार' लेने का घोर अभिग्रह किया था। छह मास तक आहार न मिलने पर भी उनके परिणाम की धारा खंडित नहीं हो पाई थी....और अन्त में मोदक का परिष्ठापन करते-करते जिन्होंने कैवल्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया था।

धन्य है **शालिभद्र महामुनि** को, जिन्होंने पादोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया था।

धन्य है **सुन्दरी** को, जिसने दीक्षा की अनुमति न मिलने पर ६०,००० वर्ष तक निरन्तर आयबिल तप की उग्र तपश्चर्या की थी।

धन्य है **पूणिया श्रावक** को, जो अत्यन्त ही भावपूर्वक सामायिक धर्म की आराधना करते थे।

धन्य है **जीर्ण श्रेष्ठि** को, जिसके हृदय में प्रभु को पारणा कराने की अपूर्व भावना थी।

धन्य है **सुलसा श्राविका** को, जो दैविक परीक्षा में भी अपने सम्यक्त्व से चलित नहीं हुई थी।

धन्य है **श्रेणिक महाराजा** को, जिनके हृदय में जिनशासन के प्रति गाढ़ प्रीति थी।

उन साध्वीजी म. को भी धन्य है, जो निर्मल शील के पालन के साथ-साथ संयम के पालन में प्रयत्नशील रहती हैं और स्वाध्याय आदि की साधना के द्वारा सतत कर्मनिर्जरा की प्रवृत्ति करती रहती हैं।

धन्य है उन महान् सतियों को, जिन्होंने मरणांत उपसर्ग में भी अपने शील को खण्डित नहीं होने दिया।

लग्न के साथ २२ वर्ष तक अंजना सती को अपने पति का वियोग रहा, फिर भी उस महासती के हृदय में अपने पति के प्रति तनिक भी दुर्भाव पैदा नहीं हुआ।

रामचन्द्रजी ने सीता का त्याग कर दिया था, फिर भी सीता के हृदय में रामचन्द्रजी के प्रति दुर्भावना पैदा नहीं हुई। सीता ने अपने संदेश में भी यही कहलाया—'लोकप्रवाह में आकर आपने मेरा त्याग कर दिया, इसमें आपको कोई विशेष हानि नहीं होगी....परन्तु लोकप्रवाह में आकर आप जिनधर्म का त्याग मत करना।'

धन्य है उस **मयणासुन्दरी** को, जो जिनेश्वर-निर्दिष्ट कर्म-सिद्धान्त पर अटल थी, भयंकर आपत्ति में भी वह जिनधर्म की श्रद्धा से विचलित नहीं हुई।

उन समस्त महान् आत्माओं के समस्त-सुकृतों की हम भावपूर्वक अनुमोदना करते हैं। ऐसी महान् आत्माओं की जो अनुमोदना करते हैं, वे भी धन्यार्ह हैं। □

मिथ्यादृशामप्युपकारसारं ,
सन्तोष-सत्यादि-गुणप्रसारम् ।
वदान्यता वैनयिकप्रकारम् ,
मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः ।। १९१ ।।
(इन्द्रवज्रा/उपेन्द्रवज्रा)

अर्थ—मिथ्यादृष्टि के भी परोपकारप्रधान संतोष-सत्य आदि गुणसमूह तथा उदारता-विनयवृत्ति आदि मार्गानुसारी गुणों की हम अनुमोदना करते हैं।। १९१ ।।

विवेचन

मिथ्यादृष्टि के मार्गानुसारी गुणों की अनुमोदना

प्रमोदभावना से भावित आत्मा जहाँ-जहाँ भी गुण देखती

है, उन सबकी वह अवश्य अनुमोदना करती है। यहाँ तक कि मिथ्यादृष्टि में भी दया, दान, परोपकार की वृत्ति को देखकर वह उसकी अवश्य अनुमोदना करती है।

जो आत्माएँ अभी तक जिनधर्म को प्राप्त नहीं हुई हैं, उन आत्माओं में भी मार्गानुसारिता आदि के गुण हो सकते हैं, उनके भी विनय, नम्रता, दया-दान आदि गुण अवश्य अनुमोदनीय हैं।

गुणानुरागी आत्मा जहाँ-जहाँ गुण देखती है, उसे उस गुण के प्रति अवश्य अनुराग होता है। जिस प्रकार स्वर्ण का अभिलाषी कीचड़ को न देखकर स्वर्ण को ही देखता है और कीचड़ में पड़े हुए स्वर्ण को भी उठा लेता है।

जिस प्रकार उद्यान के माली की दृष्टि गुलाब के फूलों पर होती है, न कि काँटों पर।

जिस प्रकार कमल के इच्छुक की दृष्टि कमल पर होती है, न कि कीचड़ पर; उसी प्रकार गुणग्राही व्यक्ति की दृष्टि भी गुणों पर ही होती है। अनेक दोषों के बीच भी यदि उसे एक भी गुण दिखाई देता है, तो वह समस्त दोषों की उपेक्षा करके गुण को ग्रहण कर लेता है। एक बार किसी देव ने गुणानुरागी कृष्ण महाराजा की परीक्षा करनी चाही। कृष्ण महाराजा रथ में बैठकर जा रहे थे। मार्ग में वह देव अपनी देवमाया से मरे हुए कुत्ते का रूप धारण कर मार्ग के बीच में पड़ गया। मरे हुए कुत्ते की दुर्गन्ध से वहाँ समस्त वातावरण दुर्गन्धमय बन गया। सभी लोग उस कुत्ते से घृणा करने लगे, परन्तु कृष्ण महाराजा ने कहा—"अहो! इस कुत्ते के दांत कितने चमकीले हैं?"

गुणग्राही व्यक्ति सर्वत्र गुण ही देखता है ।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजय जी म. ने भी गाया है—

अन्य मां पण दयाधिक गुणो, जे जिनवचन अनुसार रे ।
सर्व ते चित्त अनुमोदिए, समकित बीज निरधार रे ।।

··· और भी कहा है—

थोडलो पण गुण पर तणो, सांभली हर्ष मन आण रे ।

अन्य में रहे अल्प गुण को भी देखकर प्रसन्न होना चाहिये, उसके प्रति हृदय में आदर भाव होना चाहिये । □

जिह्वे ! प्रह्वीभव त्वं सुकृतिसुचरितोच्चारणे सुप्रसन्ना ,
भूयास्तामन्यकीर्तिश्रुतिरसिकतया मेऽद्य कर्णौ सुकर्णौ ।
वीक्ष्याऽन्यप्रौढलक्ष्मीं द्रुतमुपचिनुतां लोचने रोचनत्वं ,
संसारेऽस्मिन्नसारे फलमिति भवतां जन्मनो-
मुख्यमेव ।। १९२ ।।
(स्रग्धरावृत्तम्)

अर्थ—हे जिह्वा ! सत्कर्म करने वाले पुरुषों के सुचरित्र के उच्चारण करने में प्रसन्न होकर सरल बन । अन्य पुरुषों की कीर्ति-यश के श्रवण करने में रसिकपने से मेरे दोनों कान सुकर्ण बनें । अन्यजनों की प्रौढ़ संपत्ति को देखकर मेरी दोनों आँखें प्रसन्न बनें इस असार संसार में आपके जन्म का यही मुख्य फल है, ऐसा मैं मानता हूँ ।। १९२ ।।

विवेचन

जीभ की सच्ची सफलता

मानव-जीवन में हमें अनेक अमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। हम इच्छानुसार देख सकते हैं....इच्छानुसार बोल सकते हैं....और इच्छानुसार सुन सकते हैं।

परन्तु महापुरुषों ने कहा है—आँख, कान और जीभ इन तीनों इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण होना चाहिये, अन्यथा ये इन्द्रियाँ अपनी आत्मा की अधोगति करा सकती हैं।

अपनी इच्छानुसार ही हमे सुनना, बोलना अथवा देखना नहीं है, बल्कि जो श्रवण करने योग्य है, उसी का श्रवण करें। जो देखने योग्य है, उसी का दर्शन करें और जो कहने योग्य है, उसी का कथन करना चाहिये।

महापुरुषों ने कहा है—इस वाणी (जीभ) की सफलता गुणीजनों के गुणगान करने में ही है। कानों की सफलता गुणीजनों के गुण-श्रवण में ही है और इन आँखों की सफलता महापुरुषों के दर्शन करने में ही है।

जो आँखें प्रभु का दर्शन करके प्रसन्न बनती हैं, जो आँखें अन्य की समृद्धि को देखकर आनन्द पाती हैं, उन आँखों की प्राप्ति होना सार्थक है।

पूज्य ग्रन्थकार महर्षि अपनी इन इन्द्रियों को समझाते हुए कहते हैं कि हे जीभ! तू महापुरुषों के सुकृतों के उच्चारण करने में प्रसन्न और उत्साहित हो।

रे कर्ण ! तुम जिनवाणी और अन्य की कीर्ति-प्रशंसा आदि के श्रवण में प्रसन्न बनो ।

ए आँखो ! तुम अन्य की सुख-समृद्धि को देखकर प्रसन्न बनो । □

प्रमोदमासाद्य गुणैः परेषां ,
येषां मतिर्मज्जति साम्यसिन्धौ ।
देदीप्यते तेषु मनःप्रसादो ,
गुणास्तथैते विशदीभवन्ति ।। १९३ ।।

(उपजातिवृत्तम्)

अर्थ—अन्य पुरुषों के सुयोग्य गुणों से प्रमोद पाकर जिनकी बुद्धि समता रूपी समुद्र में मग्न बनी है, उनमें मनःप्रसन्नता उल्लसित बनती है । गुणों की प्रशंसा से वे गुण अपने जीवन में भी विकास पाते हैं ।। १९३ ।।

विवेचन

गुणानुमोदन से गुण-प्राप्ति

जो व्यक्ति अन्य के गुणों को देखकर प्रसन्न होते हैं और जिनकी बुद्धि समता रूपी सागर में मग्न रहती है, वे आत्माएँ मनःप्रसन्नता प्राप्त करती हैं ।

ईर्ष्यालु व्यक्ति का मन सदैव उद्विग्न रहता है, उसे ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते हैं । वह तो अन्य की छोटी-मोटी भूलों को देखकर जलता ही रहता है । उसे अन्य में रहे गुण

दिखाई नहीं देते हैं। उसे तो दोष-दर्शन में ही रस आता है। इस प्रकार अन्य के दोषों को देखकर वह अपने चित्त की प्रसन्नता खो देता है। उसे दूसरों की निन्दा में ही रस आता है, जबकि गुणवान व्यक्ति अन्य के गुणों को देख-देखकर हर्ष पाता है, इस हर्ष के फलस्वरूप उसका चित्त प्रसन्न बनता है और वह भी उस गुण को अल्प समय में आत्मसात् कर लेता है। प्रमोदभावना से/अन्य के गुणों की प्रशंसा करने से यदि वह गुण अपने में हो, तो दृढ़ बनता है और न हो, तो प्राप्त होता है। □

Begin, to begin is half the work. Let half still remain, again begin this, and thou will have finished.

•

Anger is a momentary madness, so control your passion or it will control you.

चतुर्दशभावनाष्टकम्

विनय ! विभावय गुणपरितोषं ,
विनय ! विभावय गुणपरितोषम् ।
निज - सुकृताप्तवरेषु परेषु ,
परिहर दूरं मत्सरदोषम् ।। विनय० १९४ ।।

अर्थ—हे विनय ! गुणों के द्वारा तू आनन्द/परितोष को धारण कर और अपने सुकृत के बल से जिन्हें श्रेष्ठ वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, ऐसे अन्य पुण्यवन्त प्राणियों के प्रति द्वेष भाव मत कर। मत्सर भाव का त्याग कर ।। १९४ ।।

विवेचन

ईर्ष्या मत करो ! गुणों की अनुमोदना करो

हे आत्मन् ! अन्य गुणीजनों के गुण आदि को देखकर तू प्रसन्न बन। इस दुनिया में जिन-जिन आत्माओं को जो-जो सुख-समृद्धि प्राप्त हुई है, यह सब उनके पूर्वकृत सुकृतों का ही परिणाम है। अतः हे आत्मन् ! उन आत्माओं की सुख-समृद्धि को देखकर तू ईर्ष्या मत कर। हृदय में मत्सर भाव को धारण मत कर।

ईर्ष्या एक ऐसी आग है, जो अपने सुकृत को जलाकर नष्ट

कर देती है। ईर्ष्या से सन्तप्त प्राणी राख से ढके हुए, अंगारे के समान है, जो अन्दर ही अन्दर जल रहे होते हैं।

हे आत्मन्! तू अन्य की गुण-समृद्धि को देखकर प्रसन्न बन। □

दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं,
वरमयमिह लभते बहुमानम्।
किमिति न विमृशसि परपरभागं,
यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम् ।। विनय० १९५ ।।

अर्थ—कोई पुण्यशाली व्यक्ति बहुत दान देता है, तो कोई भाग्यशाली बहुत मान पाता है। 'यह सब अच्छा है।' इस प्रकार तू दूसरे के उज्ज्वल भाग को क्यों नहीं देखता है? इस प्रकार सुन्दर विचार करने से उसके सुकृत का भाग तुझे भी प्राप्त हो जाएगा ।। १९५ ।।

विवेचन

गुणानुमोदन से सुकृत में सहभागी बनते हैं

पूज्य वीरविजय जी म. ने गाया है—

करण, करावण ने अनुमोदन, सरखा फल निपजावे रे।

कोई व्यक्ति अपनी शक्ति अनुसार शुभ कर्म करता है, कोई व्यक्ति अन्य को सुकृत करने की प्रेरणा करता है और एक व्यक्ति जो स्वयं सुकृत करने में असमर्थ है, वह अन्य के सुकृत की

अनुमोदना करता है, तो जैनदर्शन के अनुसार वे तीनों व्यक्ति समान पुण्य के भागी बनते हैं।

कई बार तो सुकृत करने वाले की अपेक्षा भी अनुमोदन करने वाला अधिक पुण्य का भागी बन जाता है। करण और करावण की अपेक्षा अनुमोदन का क्षेत्र विशाल है। व्यक्ति के स्वयं सुकृत करने की एक सीमा होती है, अन्य को प्रेरणा भी मर्यादित क्षेत्र में ही की जा सकती है, परन्तु अनुमोदना तो त्रैकालिक हो सकती है। दूर-देशान्तरवर्ती महान् आत्माओं के सुकृत की भी हम अनुमोदना कर सकते हैं।

अनुमोदना मन से होती है। मन का क्षेत्र व्यापक है। मन के द्वारा हम सभी के समस्त सुकृतों की अनुमोदना कर सकते हैं।

इस संसार में किसी व्यक्ति के पास बहुत सा धन हो और वह उस धन का किसी धार्मिक संस्था आदि में दान करता है, तो हमें उसके सुकृत की अनुमोदना करनी चाहिये—'धन्य है, उसने अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग कर लिया।'

इस दुनिया में किसी व्यक्ति को बहुत सा मान-सम्मान मिलता हो तो भी उसकी हमें अनुमोदना करनी चाहिये न कि उससे ईर्ष्या।

इस प्रकार गुणग्राहकता होगी तो सर्वत्र गुण ही नजर आएंगे, अन्यथा दानी को देखकर भी यही सोचेंगे—'हम जानते हैं उसे, वह कितना ईमानदार है? वाह! अब दान देने चले हैं।'

अथवा किसी के अत्यधिक आदर-सत्कार व मान-सम्मान को देखकर सोचेंगे—'मैं उसे अच्छी तरह से जानता हूँ···पक्का बेईमान है···लोगों को गफलत में डाल रहा है····।' इत्यादि-इत्यादि ।

हे आत्मन् ! जरा विचार कर । हर वस्तु के अपने दो पहलू होते हैं । तू उसके बुरे पक्ष को ही क्यों देखता है ? तू उसके अच्छे पक्ष को देखने का प्रयत्न क्यों नहीं करता है ?

एक फल आधा खराब है । एक व्यक्ति कहता है, अरे ! यह कोई फल है ? आधा तो बेकार है । दूसरा कहता है अहो ! इस फल का आधा भाग तो अच्छा है, अतः इसका उपयोग क्यों न करें ?

अतः हे आत्मन् ! तू गुणग्राही बनकर वस्तु के सुन्दर पहलू को ग्रहण करना सीख ।

इस प्रकार किसी के सुकृत को देखकर तू उसकी अनुमोदना करेगा तो उसके सुकृत का लाभ तुझे भी मिल सकेगा । □

येषां मन इह विगतविकारं,
ये विदधति भुवि जगदुपकारम् ।
तेषां वयमुचिताचरितानां,
नाम जपामो वारंवारम् ।। विनय० १९६ ।।

अर्थ—जिनका मन यहाँ विकाररहित है, तथा जो सर्वत्र उपकार कर रहे हैं, ऐसे उचित आचरण करने वाले सत्पुरुषों का नामस्मरण हम बारम्बार करते हैं ।। १९६ ।।

विवेचन

सज्जनों का स्मरण

हे आत्मन् ! तू उन महान् आत्माओं का पुनःपुनः नाम-स्मरण कर। उनके चरित्रों को याद कर। उनकी बारम्बार स्तवना कर; जो महापुरुष इस संसार से सर्वथा विरक्त बन चुके हैं, जिनके हृदय में संसार के सुखों के प्रति कोई राग नहीं है अर्थात् जिनके मन में कोई विकार नहीं है तथा जो निरन्तर जगत् के जीवों पर उपकार करने में तल्लीन है।

याद करो—**बप्पभट्टसूरिजी म.** को, जिन्होंने आजीवन छह विगई के त्याग तथा भक्त के घर की गोचरी का त्याग किया था और इसके साथ ही 'आम राजा' आदि को प्रतिबोध दिया था।

धन्य है **सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी म.** को, जिन्होंने विक्रमादित्य को प्रतिबोध दिया था।

धन्य है **कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** को, जिन्होंने कुमारपाल जैसे महाराजाओं को प्रतिबोधित कर अठारह देशों में अहिंसा का प्रचार कराया था।

धन्य है उन महान् आचार्यों को, जिन्होंने अपने जीवन की बलि देकर भी जिनशासन की सेवा की है। □

अहह तितिक्षागुणमसमानं,
पश्यत भगवति मुक्तिनिदानम्।
येन रुषा सह लसदभिमानं,
झटिति विघटते कर्मवितानम्॥ विनय० १९७॥

अर्थ—अहो ! भगवन्त (महावीर परमात्मा) में शिव-सुख के कारण रूप क्षमा गुण कितना अपूर्व कोटि का था ! जिसके देखने पर, रोष सहित बड़े अभिमान पूर्वक संचित कर्मसमूह शीघ्र अदृश्य हो जाता है ।। १६७ ।।

विवेचन

प्रभु महावीर परमात्मा की क्षमा

अहो ! भगवान महावीर के जीवन पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उनके जीवन में एक क्षमा का गुण भी कितना अपूर्व कोटि का था ! कटपूतना राक्षसी ने भयंकर शीत उपसर्ग किया, ग्वाले ने उनके कानों में खीले ठोके, चंडकोशिक विषधर ने उन्हें भयंकर दंश दिया, परन्तु भगवान महावीर ने उन सब कष्टों को अत्यन्त ही समतापूर्वक सहन किया था । उपसर्ग करने वालों के प्रति उनके हृदय में लेश भी दुर्भाव पैदा नहीं हुआ था । वे तो उपसर्ग करने वाले को भी उपकारी मानते थे । शत्रु के प्रति भी उनके हृदय में वही प्रेम और स्नेह था, जो मित्र के प्रति था अर्थात् उनके जीवन में शत्रु-मित्र की कोई भेद-रेखा नहीं थी ।

परमात्मा ने एक क्षमा गुण के द्वारा अपनी आत्मा पर साम्राज्य फैलाने वाले कर्मसमूह को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

जो कर्म अन्य आत्माओं को अलग-२ ढंग से परेशान कर रहे हैं, उन सभी कर्मों को प्रभु ने एक क्षमा गुण के द्वारा नष्ट कर दिया ।

आत्मा यदि किसी एक गुण को भी पूर्ण रूप से आत्मसात्

करले, तो वह अन्य सभी दोषों को नष्ट करने में समर्थ बन सकती है।

'क्षमा/तितिक्षा' यह मुक्ति का अनन्य कारण है। यह गुण परमात्मा में असाधारण होता है।

इस गुण को देखकर कर्मसत्ता प्रभु से दूर भाग गई। अर्थात् इस एक गुण के पूर्ण विकास से भी आत्मा परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। □

अदधुः केचन शीलमुदारं,
गृहिणोऽपि हि परिहृतपरदारम्।
यश इह सम्प्रत्यपि शुचि तेषां,
विलसति फलिताफलसहकारम्॥ विनय० १९८॥

अर्थ—ऐसे अनेक सद्गृहस्थ हैं, जिन्होंने परस्त्री का सर्वथा त्याग कर उदार शीलव्रत धारण किया है, उनका निर्मल यश आज भी इस जगत् में फले-फूले आम्रवृक्ष की तरह विलसित हो रहा है॥ १९८॥

विवेचन

शीलव्रतधारियों की अनुमोदना

इस शासन में ऐसे अनेक श्रावक हुए हैं, और हैं जिन्होंने परदारा का त्याग किया है और जो निर्मल शील को धारण किए हुए हैं।

याद करें **सुदर्शन सेठ** को। जिसने मरणान्त उपसर्ग में भी

अपने शीलव्रत का भंग नहीं किया था और अन्त में उन्होंने अपराधी का नाम बताने से भी इन्कार कर दिया था। 'मेरे निमित्त से किसी जीव को पीड़ा न पहुँचे।' यह उनके जीवन का मुद्रा लेख था। राजा के द्वारा पूछने पर भी उन्होंने महारानी का अपराध प्रगट नहीं किया था; धन्य है उस महान् आत्मा को।

इस जिनशासन में ऐसे अनेक व्रतधारी श्रावक व सद्गृहस्थ हैं, जो विकट, प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपने व्रत का भंग नहीं करते हैं और अपने ग्रहण किए हुए व्रत का पूर्णतया पालन करते हैं।

भूतकाल के इतिहास में ऐसे अनेक सद्गृहस्थ हो गए हैं, जिन्होंने अपने जीवन की बलि देकर भी शीलव्रत की रक्षा की है। उन महान् सद्गृहस्थों का निर्मल यश इस संसार में फले-फूले आम्रवृक्ष की भाँति विलसित है।

हे आत्मन्! तू उन महान् आत्माओं का बारम्बार नाम स्मरण कर। उनके गुणों का कीर्तन कर और उनकी गुण-समृद्धि की हृदय से अनुमोदना कर, यही तेरे विकास का श्रेष्ठ उपाय है। □

या वनिता अपि यशसा साकं,
कुलयुगलं विदधति सुपताकम्।
तासां सुचरितसञ्चितरागं,
दर्शनमपि कृतसुकृतविपाकम्॥ विनय० १९९॥

अर्थ—वे स्त्रियाँ भी निर्मल यश सहित अपने उभय कुल को सुशोभित करती हैं, सुचरित्र से सम्पूर्ण चन्द्रकला के समान उनका निर्मल दर्शन भी पूर्वकृत सुकृत के योग से ही होता है ।। १९९ ।।

विवेचन

शीलव्रतधारी महासतियाँ धन्य हैं

उन शीलवती स्त्रियों को भी धन्य है, जो पतिव्रत धर्म का पालन कर अपने पिता और श्वसुर कुल की कीर्ति में चार चांद लगा रही हैं।

स्त्री के लिए शील ही सबसे बड़ा धन है, यदि उसका शील सुरक्षित है तो उसका जीना भी सार्थक है और यदि उसने अपने शील को बेच दिया है, तो उसके देह की कोई कीमत नहीं है, वह हाड़-मांस का ढेर मात्र है।

महासती अंजना, मदनरेखा, कलावती, सीता, मयणा-सुन्दरी, मलयसुन्दरी आदि के चरित्रों का अध्ययन करने पर हमें ख्याल आता है कि उन्होंने मरणान्त कष्ट में भी अपने शीलधर्म का पालन किया था।

ऐसी शीलवती स्त्रियों के नामस्मरण से पाप का नाश होता है और पुण्य की वृद्धि होती है, इसीलिए प्रातःकाल में 'भरहेसर' की सज्झाय के अन्तर्गत उन महान् सतियों का भी नाम-स्मरण किया जाता है।

महासतियों का दर्शन भी पुण्य का कारण है। पुण्यशाली ही ऐसी सन्नारियों के दर्शन का लाभ उठा सकते हैं। □

तात्त्विक-सात्त्विक-सुजनवतंसाः ,
केचन युक्तिविवेचनहंसाः ।
अलमकृषत किल भुवनाभोगं ,
स्मरणममीषां कृतशुभयोगम् ।। विनय० २०० ।।

अर्थ—तथा कई तात्त्विक, सात्त्विक, सज्जन शिरोमणि पुरुष हैं तथा युक्तिपुरःसर विवेचन करने में हंस सदृश लोग हैं, उन दोनों से समस्त जगत् अलंकृत बना है ।। २०० ।।

विवेचन

विवेकीजन धन्य हैं

इस जगत् में सर्वज्ञशासन को प्राप्त कर भूतकाल में अनेक तत्त्ववेत्ता महापुरुष हुए हैं। जिनेश्वरदेव के द्वारा प्ररूपित तत्त्वों के अभ्यास से जिन्होंने जगत् की वास्तविकता को पहचाना है। दार्शनिक चर्चाओं आदि के द्वारा जिन्होंने सत्य तत्त्व को पहचानने के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है, ऐसे तात्त्विक/तत्त्वज्ञानी महापुरुषों का भी हम पवित्र स्मरण करते हैं, क्योंकि तत्त्वों के गहनतम रहस्यों को जानकर वे आत्माभिमुखी बने हैं और आत्मस्वरूप में लीन बनने के लिए ही उनका पुरुषार्थ रहा है। ऐसे तात्त्विक/तत्त्ववेत्ता पुरुष भूतकाल में अनेक हो चुके हैं। तार्किक शिरोमणि मल्लवादी आचार्य सिद्धसेन दिवाकरजी, आचार्य हेमचन्द्र सूरिजी म., आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी म., पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. आदि तत्त्ववेत्ताओं के पुण्य नाम का हम स्मरण करते हैं।

इस दुनिया में अनेक सात्त्विक पुरुष भी पाए जाते हैं, जिनमें सतोगुण की प्रधानता होती है। कलह-क्लेश के वातावरण से जो सदा दूर रहते हैं और आत्म-शान्ति चाहते हैं, ऐसे गुणवान सात्त्विक पुरुषों का भी हम बारम्बार स्मरण करते हैं।

जिनकी बुद्धि हंस के समान है, अर्थात् जिस प्रकार हंस दूध और जल में भेद कर देता है, उसी प्रकार हंस-बुद्धि वाले विवेकीजन भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हेय-उपादेय, ग्राह्य-अग्राह्य का विवेक करने में पूर्ण कुशल होते हैं। ऐसे विवेकवन्त सत्पुरुषों का भी नाम स्मरण करने योग्य है। □

इति परगुणपरिभावनसारं,
सफलय सततं निजमवतारम्।
कुरु सुविहितगुणनिधिगुणगानं,
विरचय शान्तसुधारसपानम्॥ विनय० २०१॥

अर्थ—इस प्रकार अन्य के सद्गुणों का अनुमोदन करना यही जिसका सार है, ऐसे मानवभव को प्राप्त कर हे आत्मन्! तू उसे सदा सफल कर। सदाचार में तल्लीन व सद्गुणों के समुद्र समान ऐसे सत्पुरुषों का गुणगान कर और राग-द्वेषादिक विकारवर्जित निरामय शान्त सुधारस का पान कर॥ २०१॥

विवेचन

जीवन का सार

ग्रन्थकार महर्षि प्रमोद भावना के उपसंहार के रूप में

दुर्लभता से प्राप्त मानव-जीवन की सार्थकता को बतलाते हुए फरमाते हैं कि इस जीवन की वास्तविक सफलता अन्य में रहे गुणों के अनुमोदन करने में ही है। आज तक दोषदृष्टि के कारण हमारी आत्मा ने सर्वत्र अवगुणों का ही दर्शन किया है। महान् गुणी आत्माओं में भी हमने अनेक बार दोषारोपण किया है, परन्तु अब हमें वह दोषदृष्टि बदल देनी होगी और आज से हमें गुणग्राही बन जाना है, जहाँ-जहाँ भी थोड़ा भी गुण दिखाई दे, उसका हृदय से बहुमान करना चाहिये....उस गुण की अनुमोदना करनी चाहिये।

इस प्रकार गुणीजनों के गुण की अनुमोदना करने से हमारी आत्मा में भी गुणों का संचय होने लगेगा।

यह प्रमोद भावना एक प्रकार का शान्त सुधारस/अमृत है। जिस प्रकार अमृत के पान से तृप्ति, तुष्टि व पुष्टि का अनुभव होता है, उसी प्रकार प्रमोद भावना के भावन से हमारी आत्मा तृप्त बनती है। अनादि की कुवासनाएँ शान्त हो जाती हैं और आत्मिक गुणों की पुष्टि होने लगती है।

इसी में मानव-जीवन की सफलता है। हे आत्मन्! तू निरन्तर इस भावना से भावित बन।

15

करुणा-भावना

प्रथममशनपानप्राप्तिवाञ्छाविहस्ता-
स्तदनु वसनवेश्मालङ्कृतिव्यग्रचित्ताः ।
परिणयनमपत्यावाप्तिमिष्टेन्द्रियार्थान् -
सततमभिलषन्तः स्वस्थतां क्वाश्नुवीरन् ।। २०२ ।।
(मालिनी)

अर्थ—सर्वप्रथम प्राणी खाने-पीने की लालसा से आकुल-व्याकुल बनते हैं, उसके बाद वे वस्त्र, गृह और अलंकार में व्यग्र चित्त वाले बनते हैं, उसके बाद लग्न, पुत्र-पुत्री की प्राप्ति तथा इन्द्रियों के अनुकूल विषयों की सतत अभिलाषा करते रहते हैं, अतः वे बेचारे किस प्रकार स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं ? ।। २०२ ।।

विवेचन

संसार दुःख से भरा है

संसार और सुख; असम्भव बात है। क्या आग और पानी एक साथ रह सकते हैं ? क्या धूप और छाया एक स्थान

पर एक साथ सम्भव हैं ? बस, इसी प्रकार इस संसार में सुख की आशा करना व्यर्थ है। वास्तव में, इस संसार में आत्मा को जहाँ भी पौद्गलिक पदार्थों में सुख दिखाई देता है, वह सुख नहीं बल्कि सुखाभास है। परन्तु अज्ञानता और मोह के वश होकर आत्मा सांसारिक पदार्थों से ही सुख पाना चाहती है और इसके लिए ही वह सतत प्रयत्नशील है, परन्तु हम देखते हैं कि आत्मा ज्यों-ज्यों प्रयत्न करती है, त्यों-त्यों नवीन दुःखों का ही सर्जन करती है। सुख पाने की आशा से वह दौड़ती है, प्रयत्न करती है।

आगम में कहा है—'इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।' जिस प्रकार आकाश का कहीं अन्त नजर नहीं आता है, उसी प्रकार इच्छाओं का भी कोई अन्त नहीं है। एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी इच्छा जन्म ले लेती है। इस प्रकार इच्छाओं की शृंखला चलती ही रहती है और मनुष्य की सुख-प्राप्ति की आशा अधूरी की अधूरी बनी रहती है।

सर्वप्रथम तो मनुष्य को भूख सताती है, अतः वह क्षुधा की तृप्ति के लिए प्रयत्न करता है। परन्तु जब उसे क्षुधा-तृप्ति योग्य सामग्री मिल जाती है, फिर भी वह विराम नहीं पाता है, उसके हृदय में नवीन इच्छा जागृत हो जाती है। दुनिया में दिन-रात व्यस्त लोगों से जब हम यह प्रश्न करते हैं कि 'भाई ! इतने व्यस्त क्यों हो ?'

....तो सर्वप्रथम तो वे यही जवाब देते हैं कि "भाई ! यह सब पेट के लिए करते हैं।"

परन्तु क्षुधा-तृप्ति के अनुरूप धन-सामग्री मिल जाने के बाद भी उन्हें सन्तोष कहाँ है ?

पेट तृप्त हो जाय तो फिर पेटी की चिन्ता रहती है।

इस पेट की भूख को तो रोटी के टुकड़े से शान्त किया जा सकता है, परन्तु मन की भूख ऐसी है कि वह कभी शान्त नहीं होती है। 'जहा लाहो तहा लोहो' की आगमोक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है।

राजा ने कपिल पुरोहित को कहा—'जो चाहे, वह मांग ले।'

बस, प्रारम्भ में तो कपिल पुरोहित की इच्छा मात्र दो सोना मोहर पाने की ही थी, परन्तु ज्यों ही उसे यह वरदान मिला कि उसकी इच्छाएँ हवा की तरह फैलने लगीं और लाखों करोड़ों सोना मोहर में भी उसे अतृप्ति का ही अनुभव होने लगा। लोभ की कोई सीमा नहीं है, वह असीमित है। ज्यों-ज्यों लाभ मिलता है, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है।

क्षुधा-तृप्ति के बाद मनुष्य की आकांक्षाओं का जाल वस्त्र, घर और अलंकारों की ओर फैलने लगता है। उसके हृदय में नवीन, कीमती और नई फैशन के वस्त्र पाने की इच्छा पैदा होती है और उसके लिए वह दिन-रात धनार्जन आदि में व्यस्त रहता है।

वस्त्र आदि की प्राप्ति के अनुरूप धन मिल जाय, फिर भी उसे तृप्ति कहाँ है? उसके बाद उसके हृदय में 'अपना मकान' बनाने की इच्छा पैदा होती है। परन्तु उसे कहाँ पता है कि जिसे अपना-अपना कह रहे हो, वह तो यहीं रह जाने वाला है और तुम्हें अकेले ही यहाँ से विदाई लेनी पड़ेगी।

एक बार किसी सेठ ने बहुत ही सुन्दर आलीशान भवन बनवाया। भवन में सुन्दर कलाकृतियाँ बनवाईं। उसके बाद सम्पूर्ण भवन में सुन्दर व कीमती रंग कराने का निश्चय किया। बुद्धिमान् और कुशल चित्रकारों को बुलाया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकार अपने-अपने काम में लग गए। चित्रकारों की चित्रकला से उस भवन की शोभा में चार चांद लगने लगे। सेठ भी उस कला को देखने के लिए आया। सुन्दर कला को देखकर मन ही मन मुस्कराने लगा।

सेठ ने चित्रकारों को आदेश दिया कि 'इन दीवालों को ऐसे दिव्य रंगों से रंगा जाय कि ५० वर्ष तक इनकी शोभा में कोई फर्क न पड़े।'

सेठ यह बात कह ही रहे थे कि इस बीच एक दिव्य ज्ञानी महात्मा जो वहाँ से गुजर रहे थे, सेठ की यह बात सुनकर तनिक मुस्कराए।

सेठ ने मुनि के हास्य को देखा। सेठ के दिल में शंका पैदा हुई। मुनि क्यों हँसे? अन्त में वे सेठ मुनि के पास पहुँचे, उन्होंने मुनि को हँसी का कारण पूछा। सेठ के आग्रह पर मुनि ने कहा—'सेठजी! आप भवन की शोभावृद्धि के लिए इतने प्रयत्नशील हो, परन्तु आपका जीवन तो मात्र ७ दिन का ही है····फिर भी आप रंग की इतनी चिन्ता कर रहे हैं, यह जानकर मुझे हँसी आ गई।'

मुनि की बात सुनकर सेठ चौंक गए।

बस; इस दुनिया में अधिकांश जीवों की यही स्थिति है।

जीवन की क्षण-भंगुरता को भूल कर हर व्यक्ति अपनी कामेच्छा को पूर्ण करने में लगा हुआ है।

मानव को प्राप्त पाँचों इन्द्रियों की यह विचित्रता है कि वे अनुकूल सामग्री के मिलने पर भी कभी तृप्त नहीं बनती हैं।

इस प्रकार सतत दौड़धूप कर रहे जीवात्मा को इस संसार में स्वस्थता व शान्ति कहाँ से प्राप्त हो सकती है।

हर नई इच्छा मनुष्य की शान्ति को समाप्त कर देती है, फिर भी आश्चर्य है कि मनुष्य उन इच्छाओं पर रोक न लगाकर उन्हें बढ़ावा ही दे रहा है। इस प्रकार वासनाओं और इच्छाओं से अतृप्त मानव सदैव अशान्ति का ही अनुभव करता है। □

उपायानां लक्षैः कथमपि समासाद्य विभवं,
भवाभ्यासात्तत्र ध्रुवमिति निबध्नाति हृदयम्।
अथाकस्मादस्मिन्विकिरति रजः क्रूरहृदयो,
रिपुर्वा रोगो वा भयमुत जरा मृत्युरथवा॥ २०३॥
(शिखरिणी)

अर्थ—लाखों उपाय करके महाकष्ट से लक्ष्मी प्राप्त कर 'यह लक्ष्मी सदा रहने वाली है' ऐसा मानकर गत भवों के अभ्यास के कारण आत्मा उसमें मोहित बनती है। परन्तु इतने में क्रूर हृदय वाले शत्रु, रोग, भय, जरा अथवा मृत्यु आकर अचानक ही उसमें धूल डाल देते हैं॥ २०३॥

विवेचन

रोग, जरा व मृत्यु का सतत भय

इस संसार में अधिकांश जीवों की यह मान्यता है कि ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों सुख बढ़ता है।

धन की वृद्धि-सुख की वृद्धि, इस फार्मूले के अनुसार ही अधिकांश व्यक्तियों का जीवन चलता है।

वर्तमान के इस भौतिकवाद में सारी दुनिया धन के पीछे पागल है। येन केन प्रकारेण वह धन के अर्जन में लगी हुई है, परन्तु दुनिया भूल गई है कि धन से सुख के साधन जुटाए जा सकते हैं किन्तु सुख नहीं। धन से वातानुकूलित शयनकक्ष खरीदा जा सकता है, किन्तु नींद नहीं। धन से मित्र खरीदे जा सकते हैं, किन्तु मैत्री नहीं। धन से दवा खरीदी जा सकती है, किन्तु जीवन नहीं। धन से भोजन खरीदा जा सकता है, किन्तु भूख नहीं।

परन्तु अज्ञानी लोगों की यही भ्रान्ति है कि धन से सब कुछ खरीदा जा सकता है और इस मान्यतानुसार ही व्यक्ति धन को जुटाने में व्यस्त रहता है।

परन्तु 'मृत्यु' मनुष्य की आशाओं के महल को क्षण भर में धराशायी कर देती है।

'रामू' नाम का एक हट्टा-कट्टा मजदूर था....परन्तु मन्दभाग्य से उसे विशेष मजदूरी नहीं मिल पाती थी। एक बार एक सेठ बाजार में घी खरीदने के लिए आए। उन्होंने मिट्टी के एक

पक्के घड़े में दस किलो घी खरीदा। घड़े को उठाने के लिए एक मजदूर की आवश्यकता थी।

'रामू' थोड़ी ही दूरी पर बैठा था, सेठ ने आवाज दी।···· 'रामू' तैयार हो गया। रामू ने अपने मस्तक पर घड़ा उठाया और चलने लगा।

थोड़ी सी दूर चलने पर वह सोचने लगा—'अहो! आज तो मेरा भाग्य खुल गया, अब सेठजी मुझे १ रु. देंगे····उस रुपये से मैं थोड़े चने ले आऊंगा····फिर उन चनों को बेचूंगा····मेरे पास धीरे-धीरे दस रु. हो जायेंगे····फिर मैं एक बकरी खरीद लूंगा····फिर उस बकरी के बच्चे होंगे····धीरे-धीरे मेरे पास काफी बकरियाँ हो जाएंगी····फिर मैं एक भैंस खरीद लूंगा भैंस के दूध का व्यापार करूंगा····फिर मेरे पास काफी रुपए हो जाएंगे····उसके बाद मेरी शादी हो जाएगी····फिर मेरे बच्चे होंगे····सब मेरी आज्ञा मानेंगे····हाँ! यदि बीबी ने मेरी आज्ञा नहीं मानी तो मैं यह घड़ा ही उस पर फोड़ दूंगा····और यह सोचते ही उसने घी का घड़ा भूमि पर पटक दिया····सारा घी धूल में मिल गया।

रामू की सभी योजनाएँ एक ही क्षण में धरी-की-धरी रह गईं और साथ में जूते पड़े वे अलग।

बस, इस संसार में मानव नाना सुखों की कल्पना करके अनेकविध साधन जुटाने के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु 'मृत्यु' उसके महल को धराशायी कर देती है और उसका इस दुनिया से अस्तित्व ही मिट जाता है। ठीक ही कहा है—

जिनके महलों में, हजारों रंग के फानूस जलते थे।
उनकी कब्रों का आज, निशां भी नहीं।।

जिस प्रकार एक महल के निर्माण में कई वर्ष लगते हैं, किन्तु उसे धराशायी होने में कोई समय नहीं लगता है, उसी प्रकार सुख के साधन जुटाने में वर्षों लग जाते हैं, किन्तु मृत्यु, शत्रु का आक्रमण, दंगा, रोग आदि उस सुख के साधन को क्षण भर में समाप्त कर देते हैं, यही तो इस संसार की विचित्रता है। ☐

स्पर्द्धन्ते केऽपि केचिद्दधति हृदि मिथो मत्सरं क्रोधदग्धा,
युध्यन्ते केऽप्यरुद्धा धनयुवतिपशुक्षेत्रपद्रादिहेतोः।
केचिल्लोभाल्लभन्ते विपदमनुपदं दूरदेशानटन्तः,
किं कुर्मः किं वदामो भृशमरतिशतैर्व्याकुलं विश्वमेतत् ।।२०४।।
(ललिता)

अर्थ—यहाँ कई परस्पर स्पर्द्धा करते हैं, कई क्रोध से दग्ध बने एक-दूसरे की ईर्ष्या करते हैं; कई धन, युवती, पशु, क्षेत्र तथा ग्रामादि के लिए निरन्तर लड़ते रहते हैं तथा कई लोभ के वशीभूत होकर दूर देशान्तर में भटकते हुए स्थान-स्थान पर क्लेश पाते हैं। इस प्रकार अनेकविध उद्वेग-संक्लेश से यह सम्पूर्ण विश्व व्याकुल बना हुआ है ।। २०४ ।।

विवेचन

संसार : संक्लेश का अखाड़ा है

अहो ! इस संसार में जीवात्माएँ किस प्रकार आकुल-व्याकुल बनी हुई हैं ?

कितने ही प्राणी एक-दूसरे से अधिक पाने के लिए····एक-दूसरे से आगे बढ़ने के लिए परस्पर स्पर्द्धा कर रहे हैं। कोई धन से स्पर्द्धा कर रहा है····तो कोई राज्य से····तो कोई भौतिक सुख के साधनों से।

'मैं उससे आगे बढ़ जाऊँ' 'मैं उससे अधिक सुखी बन जाऊँ', इस प्रकार की भावना से व्यक्ति परस्पर होड़ कर रहे हैं।

कई प्राणी हृदय में क्रोध की आग से जले हुए हैं और वे एक-दूसरे के सुख की ईर्ष्या कर रहे हैं। इस दुनिया में अधिकांश प्राणी ईर्ष्या के रोग से ग्रस्त बने हुए हैं और इस प्रकार अन्दर ही अन्दर जल रहे हैं।

कई मनुष्य धन के लिए परस्पर लड़ रहे हैं, तो कोई सुन्दर स्त्री को पाने के लिए लड़ रहा है····तो कोई जमीन व राज्य की सीमा के लिए लड़ रहा है।

भूतकाल के युद्धों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे तो यही बात ख्याल में आएगी कि अधिकांश युद्ध धन, स्त्री और जमीन के लिए हुए हैं। इस प्रकार धन, स्त्री और जमीन के लिए लड़कर व्यक्ति परस्पर खुद का ही विनाश करते हैं।

इस दुनिया में कई मनुष्य लोभ के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कष्ट सहन कर रहे हैं। धन के लिए वे पुत्र-परिवार तक का त्याग कर देते हैं, धन के लिए वे अपने देश का त्याग कर देते हैं और एकान्त-निर्जन प्रदेशों में जाकर कष्टप्रद जीवन व्यतीत कर धनार्जन में लगते हैं।

अहो ! इस प्रकार विश्व के ये प्राणी नाना प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त होकर यातनाएँ भोग रहे हैं ।

हम क्या करें ? और क्या कहें ? विश्व के जीवों की यातनाओं का वर्णन अशक्य ही है । आश्चर्य तो इस बात का है कि ये अज्ञानी जीव अपने हाथों ही नई-नई समस्याएँ खड़ी कर रहे हैं । □

स्वयं खनन्तः स्वकरेण गर्तां ,
मध्ये स्वयं तत्र तथा पतन्ति ।
तथा ततो निष्क्रमणं तु दूरे-
ऽधोऽधः प्रपाताद् विरमन्ति नैव ।। २०५ ।।
(उपजाति)

अर्थ—अपने ही हाथों से गड्ढा खोदकर मोहमूढ़ आत्माएँ उसमें इस प्रकार गिर पड़ती हैं कि उसमें से बाहर निकलना तो दूर रहा, बल्कि अधिकाधिक नीचे गिरती ही जाती हैं ।। २०५ ।।

विवेचन

अज्ञानता से पतन

इस संसार में जीवात्मा की जो दयनीय स्थिति है, उस दयनीय स्थिति का सर्जक आत्मा स्वयं है । दुनिया में दोनों मार्ग हैं—विकास के भी और विनाश के भी । व्यक्ति जिस मार्ग को पसन्द करता है, उस मार्ग में वह आगे बढ़ता है । मोहाधीन आत्माएँ विनाश-मार्ग का ही अनुसरण करती हैं, अतः वे उस मार्ग में

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हैं, त्यों-त्यों नवीन दुःखों व आपत्तियों का ही सर्जन करती हैं।

अध्यात्म सुख का मार्ग है। भौतिकवाद दुःख का मार्ग है।

आज वर्तमान युग में मनुष्य अध्यात्ममार्ग से दूर हटता जा रहा है और भौतिकवाद में दिन-प्रतिदिन आगे बढ़ता जा रहा है, इसका परिणाम हमारे सामने है। दिन-प्रतिदिन हमारे सामने नई-नई समस्याएँ खड़ी होती जा रही हैं।

आत्मा अपने दुःख का गर्त भी स्वयं ही खोद रही है और दिन-प्रतिदिन वह नीचे ही जा रही है, क्योंकि उसके पास वासना-नियंत्रण का कोई साधन नहीं है। वासनाओं की प्रबलता के कारण वह अधोगमन करती जा रही है।

व्यसन-सेवन एक ऐसा गर्त है, जिसमें फँसने के बाद आत्मा का उसमें से बाहर निकलना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

उदाहरणार्थ—शराब एक ऐसा व्यसन है कि प्रारम्भ में तो व्यक्ति को लगता है कि 'मैं शराब पीता हूँ' परन्तु समय बीतने पर व्यक्ति शराब का इतना अधिक गुलाम हो जाता है कि 'शराब ही उसे पीने लग जाती है।'

यही स्थिति अन्य व्यसनों की भी है। व्यसन का गुलाम व्यक्ति गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने में असमर्थ हो जाता है और उसका पतन निश्चित हो जाता है। □

प्रकल्पयन् नास्तिकतादिवाद-
मेवं प्रमादं परिशीलयन्तः ।
मग्ना निगोदादिषु दोषदग्धा ,
दुरन्त - दुःखानि हहा सहन्ते ।। २०६ ।।
(उपजाति)

अर्थ—नास्तिकता आदि कुवादों की कल्पना करके निर्विवेक जीव इस प्रकार के प्रमाद का विशेष आचरण करने वाले स्वदोष से दग्ध बने निगोद आदि दुर्गति में गिरकर निरवधि असंख्यकाल तक दुरन्त दुःखों को सहन करते हैं ।। २०६ ।।

विवेचन

प्रमाद से पतन

प्रमाद आत्मा का सबसे भयंकर शत्रु है। आत्मा की विस्मृति सबसे भयंकर प्रमाद है। भौतिकवाद/नास्तिकवाद इस प्रमाद को बढ़ावा देते हैं। नास्तिकवाद से ग्रस्त व्यक्ति आत्म-हित को सर्वदा भूल जाता है और 'खाओ, पीओ और मौज करो' Eat, drink and be marry में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है। मात्र इहलौकिक सुखों में आसक्त उन आत्माओं की परलोक में कैसी भयंकर दुर्दशा हो जाती है, इसका चित्रण प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस प्रकार भौतिक सुख में आसक्त वे आत्माएँ मरकर नरक और निगोद के गर्त में डूब जाती हैं कि बेचारी अनन्तकाल तक पुनः ऊपर भी नहीं उठ पाती हैं।

ओह ! निगोद के जीवों को जन्म-मरण की कैसी भयंकर

पीड़ा/वेदना है ? अपने एक श्वासोच्छ्वास में उन जीवों के साढ़े सत्रह भव हो जाते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में तो उन जीवों के ६५५३६ भव हो जाते हैं। सतत जन्म-मरण की ही पीड़ा भोग रहे हैं वे। निगोद के जीव जिस भयंकर पीड़ा का अनुभव करते हैं, उस पीड़ा का वर्णन केवलज्ञानी भी अपनी वाणी से नहीं कर सकते हैं।

७वीं नरकभूमि के जीव जिस वेदना का अनुभव करते हैं, उससे भी अनन्त गुणी वेदना निगोद के जीव प्रति पल भोग रहे हैं।

उस निगोद की कायस्थिति भी अनन्तकाल की है, एक बार वहाँ चले जाने के बाद वहाँ से ऊपर उठना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है।

चौदहपूर्वी भी यदि प्रमाद के वशीभूत हो जाय तो वह भी मरकर निगोद में जा सकता है, तो फिर जो प्रमाद में ही लयलीन बने हुए हैं, उन आत्माओं की भावी दुर्दशा का क्या वर्णन करें ? वे बेचारे दया के पात्र ही हैं। □

शृण्वन्ति ये नैव हितोपदेशं,
न धर्मलेशं मनसा स्पृशन्ति।
रुजः कथंकारमथापनेया-
स्तेषामुपायस्त्वयमेक एव ॥ २०७ ॥
(उपजाति)

अर्थ—जो हितोपदेश को सुनने के लिए तैयार ही नहीं हैं

और लेश मात्र भी धर्म को मन में स्थान नहीं देते हैं, उनके दुर्गति आदि भाव-रोगों को कैसे दूर करें? अतः उन जीवों के प्रति करुणा रखना, यही एक उपाय है ।। २०७ ।।

विवेचन

करुणापात्र कौन ?

महान् पुण्योदय से सद्गुरु का योग मिलता है। जिन आत्माओं को सद्गुरु का योग सुलभ हो, किन्तु मोह के अधीन बनकर जो सद्गुरु की उपेक्षा करके धर्मोपदेश नहीं सुनते हैं, वे जीव अत्यन्त ही दया के पात्र हैं।

जैनदर्शन में करुणा के दो भेद बतलाए हैं—द्रव्यकरुणा और भावकरुणा।

रोग, भूख तथा अन्य शारीरिक-मानसिक यातनाओं से जो ग्रस्त हैं, उनके बाह्य दुःख के निवारण की चिन्ता करना और यथाशक्य उनके दुःखों को दूर करना द्रव्यकरुणा है तथा जो धन-धान्य तथा बाह्य वैभव से समृद्ध होते हुए भी धर्म से विमुख हैं, उन जीवों पर भावकरुणा करनी चाहिये।

धर्म से रहित चक्रवर्ती भी दया/करुणा का पात्र है, क्योंकि धर्म के सिवाय परलोक में सच्चा साथी और कौन है? धर्म ही आत्मा का सच्चा रक्षक और हितचिन्तक है। अपने हित-चिन्तक धर्म को छोड़कर जो आत्माएँ मोज-शौक और ऐश-आराम में निमग्न हैं, उन जीवों पर भावकरुणा करनी चाहिये।

धर्म औषधि तुल्य है। रोगी यदि औषधि लेने के लिए

तैयार ही नहीं है, तो डॉक्टर भी क्या कर सकता है, इसी प्रकार जिन जीवों में धर्म के प्रति कोई अनुराग या आस्था ही नहीं है, उन जीवों के दुःख-निवारण के लिए हम अधिक क्या कर सकते हैं? एक मात्र उनके प्रति दया का चिन्तन करना, यही एक उपाय है।

वर्तमानकाल में भौतिकवाद की आंधी तेजी से आगे बढ़ रही है। चारों ओर भौतिकवाद पनप रहा है, भौतिकवादी जीवों के हृदय में धर्म के प्रति अनुराग कहाँ से पैदा हो?

ग्रन्थकार महर्षि ऐसे धर्महीन जीवों के प्रति भी भावकरुणा धारण करने का उपदेश देते हैं। □

परदुःखप्रतिकार - मेवं ध्यायन्ति ये हृदि।
लभन्ते निर्विकारं ते, सुखमायतिसुन्दरम्॥ २०८॥
(अनुष्टुप्)

अर्थ—जो इस प्रकार अन्य के दुःखों को दूर करने का चिन्तन करते हैं, वे सुन्दर परिणाम वाले निर्विकारी सुख को पाते हैं॥ २०८॥

विवेचन

करुणा से सुख-प्राप्ति

जो आत्मा अन्य के दुःख निवारण की चिन्ता करती है, वह आत्मा इस प्रकार की शुभ भावना से शुभ कर्म का बन्ध करती है। वह शुभ कर्म उस आत्मा को भविष्य में महान् सुख प्रदान करता है।

स्व-पीड़ा-निवारण का चिन्तन आर्त्तध्यान है।

पर-पीड़ा-निवारण का चिन्तन धर्मध्यान है।

इस करुणा भावना के द्वारा आत्मा, जगत् में रहे हुए अन्य समस्त जीवों के दुःख-निवारण की भावना करती है, यह एक प्रकार की शुभ-भावना है। स्व-सुख के चिन्तन रूप आर्त्तध्यान से आत्मा अशुभ कर्म का बन्ध करती है, जबकि जगत् के सर्व जीवों के सुख-चिन्तन से आत्मा शुभध्यान के द्वारा शुभ कर्मों का उपार्जन करती है।

इस शुभध्यान के फलस्वरूप भविष्य में आत्मा निर्विकार मोक्षसुख प्राप्त करने के लिए सुयोग्य बनती है और अन्त में वह उस शाश्वत सुख को प्राप्त कर अजर-अमर बन जाती है। उसके दुःख सदा के लिए दूर हो जाते हैं, वह शाश्वत सुख की भोक्ता बन जाती है। मोक्ष-प्राप्ति के बाद आत्मा को न जन्म की पीड़ा है और न मृत्यु की। न भूख है, न प्यास है। आत्मा परमानन्द निज स्वरूप की मस्ती का अनुभव करती है। मोक्ष के सुख का वर्णन असम्भव ही है।

संसार के अनुत्तरदेव आदि के सभी सुखों को पिण्डरूप बनाया जाय तो भी मुक्तात्मा के एक आत्म-प्रदेश के सुख का अनन्तवाँ भाग ही होता है, अर्थात् मुक्तात्मा अपने एक आत्मप्रदेश से जिस सुख का अनुभव करती है, उस सुख के अनन्तवें भाग जितना सुख भी इस संसार में नहीं है।

पञ्चदशभावनाष्टकम्

सुजना ! भजत मुदा भगवन्तं,
सुजना ! भजत मुदा भगवन्तम् ।
शरणागतजनमिह निष्कारण-
करुणावन्तभवन्तं रे ।। सुजना० २०९ ।।

अर्थ—हे सज्जनो ! शरणागत प्राणियों पर निष्कारण अप्रतिम करुणा करने वाले भगवन्त को आप प्रेम से भजो ।। २०९ ।।

विवेचन

भगवन्त की भक्ति करो

जिस व्यक्ति का मन जिनशासन से भावित बना है, उस आत्मा में करुणा अवश्य होगी । संसार के सत्रस्त प्राणियों को देखकर ऐसी करुणावन्त आत्मा का हृदय द्रवित हो जाता है । उसके मन में एक ही भावना/कामना रहती है कि संसार के ये सभी प्राणी किस प्रकार दुःख से मुक्त बन जायें और शाश्वत सुख के भोक्ता बन जायें ।

द्रव्य और भाव रोगों से अत्यन्त संत्रस्त जीवों को देखकर

करुणावन्त आत्मा पुकार उठती है—हे भव्यजनो ! हे सज्जनो ! भयंकर दुःख की पीड़ा में से मुक्त बनने के लिए आप जिनेश्वरदेव की सेवा करो ।

इस संसार में आत्मा अपने राग-द्वेष के अध्यवसायों से ही कर्मबन्ध करती है और उसके फलस्वरूप नये-नये दुःखों को प्राप्त करती है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संसार के समस्त दुःखों की जड़ राग और द्वेष ही है । यदि आत्मा में राग-द्वेष न हो तो तज्जन्य कर्म भी नहीं हो सकते हैं और कर्म का बन्ध न हो तो दुःख भी नहीं आ सकते हैं ।

राग-द्वेष के बन्धन से मुक्त बनने के लिए जो वीतराग बन चुके हैं, उनकी सेवा, भक्ति और उनकी आज्ञा का पालन अनिवार्य है । धन का अर्थी धनी की आज्ञा का अनुसरण करता है । विद्या का अर्थी विद्यावन्त गुरु की आज्ञा का अनुसरण करता है । आरोग्य का अर्थी वैद्य की आज्ञा का अनुसरण करता है, इसी प्रकार जो राग-द्वेष से मुक्त बनना चाहता है, उसे वीतराग की सेवा अवश्य करनी चाहिये ।

हे भव्यजनो ! हे सज्जनो ! भव-रोग से मुक्त बनने के लिए वीतराग-सेवा को छोड़कर दूसरा कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

वीतराग-स्तोत्र में **कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी** ने कहा है—

'आज्ञाराद्धा विराद्धा च शिवाय च भवाय च ।'

परमात्मा की आज्ञा का पालन कल्याण (मोक्ष) के लिए है और उनकी आज्ञा की विराधना संसार के लिए है ।

ये वीतराग अरिहन्त परमात्मा निष्कारण अप्रतिम करुणावन्त हैं। पूर्व के तीसरे भव में **'सवि जीव करूं शासनरसी'** की उत्कृष्ट भावना के बल से उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है और इस कर्म के उदय से ही वे अपने अन्तिम भव में तीर्थंकर पद प्राप्त कर 'तीर्थ' अर्थात् 'जिनशासन' की स्थापना करते हैं।

उनके हृदय में जगत् के सर्व जीवों के कल्याण की कामना उत्कृष्ट भाव से रही हुई है। इसी भावना के फलस्वरूप वे धर्म का उपदेश देते हैं। वे निष्कारण उपकारी हैं, उनके हृदय में प्रतिफल पाने की कोई वांछा नहीं है।

जिस प्रकार सूर्य का स्वभाव ही प्रकाश देने का है, वह प्रकाश देकर प्रतिफलस्वरूप कुछ भी नहीं मांगता है, इसी प्रकार 'परोपकार' यह तीर्थंकर परमात्मा का स्वभाव बना होता है। वे भव्य जीवों को सर्व प्रकार से और सर्वदा दुःखमुक्त बनने का सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-मार्ग बतलाते हैं। मोक्षमार्ग का प्रदर्शन कर वे भव्य जीवों पर अद्वितीय असदृश उपकार करते हैं। ऐसे अनन्त करुणावन्त जिनेश्वरदेव की आज्ञा का तुम आराधन करो, यही भवरोग मुक्ति का सुन्दर उपाय है। □

क्षणमुपधाय मनःस्थिरतायां,
पिबत जिनागमसारम्।
कापथघटनाविकृतविचारं,
त्यजत कृतान्तमसारं रे॥ सुजना० २१०॥

अर्थ—क्षण भर मन को स्थिर करके श्री जिनेश्वरदेव के

आगम रूप अमृत का पान करो और उन्मार्ग की रचना से विषम विचार वाले असार और मिथ्याशास्त्रों का त्याग करो ।। २१० ।।

विवेचन

आगम अमृत का पान करो

सुख-प्राप्ति और दुःख-मुक्ति के लिए सभी प्राणी चारों ओर दौड़-धूप कर रहे हैं, परन्तु मार्ग की अनभिज्ञता के कारण वे अधिकाधिक नवीन दुःखों को ही प्राप्त करते हैं। सुख-प्राप्ति व दुःखमुक्ति की इतनी अधिक उत्सुकता रहती है कि व्यक्ति का मन सदैव चंचल और अस्थिर ही रहता है।

अस्थिर चित्त वाले व्यक्ति की निर्णय शक्ति समाप्त हो जाती है, वह न तो वस्तु-स्थिति को पूर्णरूपेण समझ सकता है और न ही किसी बात का निर्णय ले सकता है।

पूज्य उपाध्याय श्री यशोविजयजी म. ने 'ज्ञानसार' में कहा है—

वत्स ! किं चञ्चलस्वान्तो, भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा विषीदसि ?
निधिं स्वसन्निधावेव, स्थिरता दर्शयिष्यति ।।

हे भव्यात्मन् ! चंचल चित्त वाले बनकर तुम इधर-उधर क्यों भटक रहे हो ? तुम जिस धन को खोज रहे हो, वह तो तुम्हारे पास ही है, तुम कुछ स्थिर बनो, वह स्थिरता ही तुम्हें वह निधि बता सकेगी।

कई बार हम देखते हैं कि व्यक्ति का मन जब अत्यन्त

अस्थिर होता है, तब उसे अपने हाथ में रही वस्तु भी दिखाई नहीं देती है और वह उसी वस्तु के लिए इधर-उधर तलाश कर रहा होता है।

पूज्यपाद विनय विजयजी महाराज भव्यात्माओं को सन्मार्ग दिखलाते हुए कहते हैं कि हे भव्यात्माओ ! सर्वप्रथम तुम स्थिर बनो और स्थिर बनकर जिनागम रूप अमृत का कुछ आस्वादन करो।

जिनागम को ग्रन्थकार ने अमृत की उपमा दी है। अमृत के पान से आत्मा तृप्त और पुष्ट बनती है, इसी प्रकार जिनेश्वर-देव द्वारा प्ररूपित जिनागमों का स्वाध्याय-अध्ययन करो। जिनागम यह जिनेश्वर की वाणी है। इस कलिकाल में हमें साक्षात् परमात्मा के दर्शन का तो सौभाग्य प्राप्त नहीं है, फिर भी इस कलिकाल में भी वीतराग-परमात्मा के अक्षरदेहरूप जिनागमों से अवश्य लाभान्वित हो सकते हैं।

जिनागम का स्वाध्याय एक ऐसा अमृत भोजन है, जिसके आस्वादन से आत्मा में अनादिकाल से रही हुई वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं और आत्मानन्द का अनुभव होने लगता है।

अतः हे भव्यात्मन् ! तू जिनागम का कुछ रसास्वादन कर, एक बार रसास्वादन करने के बाद फिर तुम उसे छोड़ नहीं सकोगे। इसके साथ ही उन्मार्गपोषक मिथ्याशास्त्रों का त्याग करो।

जैन-दर्शन के सिवाय अन्य सभी दर्शन एकान्तवाद को पकड़े हुए हैं। उस एकान्तवाद के कारण ही उनके शास्त्र मिथ्या गिने गए हैं। एकान्तवाद के कदाग्रह के कारण वे शास्त्र मोक्षमार्ग के प्रेरक न बनकर संसार की ही अभिवृद्धि करने वाले हैं।

मात्र अर्थ और काम का ही पोषण करने वाले भी अनेक शास्त्र हैं, ऐसे कुशास्त्रों का त्याग करना चाहिये । □

परिहरणीयो गुरुरविवेकी ,
भ्रमयति यो मतिमन्दम् ।
सुगुरुवचः सकृदपि परिपीतं ,
प्रथयति परमानन्दं रे ।। सुजना० २११ ।।

अर्थ—जो मतिमन्द/मुग्धजनों को संसारचक्र में परिभ्रमण कराते हैं ऐसे अविवेकी गुरु का त्याग करना चाहिये और सद्गुरु का वचनामृत एक बार भी पीया है तो वह परमआनन्द को बढ़ाता है ।। २११ ।।

विवेचन

सद्गुरु के वचन अमृत तुल्य हैं

मुमुक्षु आत्मा सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की उपासक होती है और वह कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का त्याग करती है ।

जो वीतराग हैं, वे ही हमारे देव हैं, जो निर्ग्रन्थ हैं, वे ही हमारे गुरु हैं तथा जो जिनेश्वर प्ररूपित धर्म है, वही हमारा धर्म है ।

मोक्षमार्ग के साधक को सद्गुरु की साधना/उपासना करनी चाहिये और कुगुरु का त्याग करना चाहिये ।

मोक्षमार्ग की साधना मे गुरु तत्त्व का बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि गुरु ही मार्ग-दर्शक होते हैं । अधिकांश जीवों को

सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्राप्ति सद्गुरु के संग से ही होती है।

सद्गुरु वे हैं, जो स्वयं मोक्षमार्ग के साधक हैं और दूसरों को भी मोक्षमार्ग बताते हैं।

गुरु के चयन में सावधानी रखना अत्यन्त अनिवार्य है। गुरु तो नाविक तुल्य है। नाविक यदि होशियार हो तो भयंकर संकट में भी वह नाव को पार लगा देगा और यदि नाविक होशियार नहीं है तो वह स्वयं डूबेगा और सभी को डुबो देगा।

भवसागर से पार उतरने के लिए सद्गुरु का संग चाहिये। इसके साथ-साथ कुगुरु का त्याग भी अनिवार्य है।

कुगुरु वे हैं जो मोक्षमार्ग से विपरीत आचरण और प्ररूपणा करते हैं, वे स्वयं भवसागर में डूबते हैं और उनका जो भी आश्रय लेता है, उनको भी वे भवसागर में डुबोते हैं।

इस संसार में गुरु का वेष पहने हुए तो बहुत मिलेंगे, परन्तु गुरु पद के लिए सुयोग्य साधु थोड़े ही मिलेंगे, अतः मात्र गुरु का वेष देखकर ही उन्हें अपना जीवन-नैय्या नहीं सौंप देने की है, बल्कि उनके जीवन की भी परीक्षा होनी चाहिये। वे मोक्षमार्ग के साधक और प्ररूपक होने चाहिये।

हे भव्यात्मन्! तू कुगुरु का त्याग कर और सद्गुरु का आश्रय कर, उनकी वाणी का श्रवण कर! सद्गुरु की वाणी के श्रवण से आत्मा के वास्तविक आनन्द की अनुभूति होगी। □

कुमततमोभरमीलितनयनं ,
किमु पृच्छत पन्थानम् ।
दधिबुद्धया नर जलमन्थानं ,
किमु निदधत मन्थानं रे ।। सुजना० २१२ ।।

अर्थ- कुमति रूपी अन्धकार से जिसके नेत्र मीलित हो गए हैं, ऐसे कुगुरु को मार्ग क्यों पूछते हो ? जल से परिपूर्ण भाजन में दही की बुद्धि से रवैया क्यों करते हो ? ।। २१२ ।।

विवेचन

कुगुरु का संग छोड़ दो

क्या अन्धा व्यक्ति आपको मार्ग बता सकता है ? क्या अन्धे व्यक्ति का अनुसरण कर आप अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच सकते हैं ?

यदि नहीं····तो फिर कुमत के अन्धकार से जो अन्ध बने हुए हैं, आत्मकल्याण के लिए आप उनका मार्गदर्शन क्यों ले रहे हैं ?

हे आत्मन् । कुमत के कदाग्रह से जिनकी बुद्धि कुण्ठित हो गई है, ऐसे दुष्टजनों का मार्गदर्शन तुम्हारा हित नहीं कर सकता है ।

जल में दही की कल्पना कर उस जल का मन्थन करने से क्या घी की प्राप्ति हो सकती है ? कदापि नहीं । इसी प्रकार जो ससार के भोग-सुखों में अत्यन्त आसक्त हैं····जिनके हृदय में संसार के भौतिक सुखों का तीव्र राग रहा हुआ है····जो ऐशो

आराम में डूबे हुए हैं, ऐसे व्यक्तियों का तुम मार्गदर्शन ले रहे हो ? क्या उन व्यक्तियों का मार्गदर्शन तुम्हें उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है ? वे तो स्वयं डूबे हुए हैं और उनका अनुसरण करोगे तो तुम भी डूब जाओगे ।

दुनिया में ऐसे अनेक कुमत हैं, जिनकी प्ररूपणा मोक्ष-मार्ग से सर्वथा विपरीत है । कोई मात्र ज्ञान से मुक्ति मानते हैं तो कोई मात्र क्रिया से । कोई कायकष्ट से मुक्ति मान रहे हैं तो कोई मात्र वैराग्य से । कोई इच्छाओं की पूर्ति में ही आनन्द मानता है तो कोई मात्र ध्यान में आनन्द मानता है ।

इस प्रकार इस दुनिया में अनेक कुमत हैं और उनके प्रणेता मोह से ग्रस्त हैं । ऐसे कुमत प्ररूपकों से आत्मकल्याण के लिए मार्गदर्शन की इच्छा करना आत्मवञ्चना ही है ।

'थोथा चना बाजे घणा' के नियमानुसार उन कुमत-प्ररूपकों का आडम्बर भी अत्यधिक होता है । अतः भोली-भाली प्रजा उनके चगुल में फँस जाती है ।

सर्वात्माओं के हितचिन्तक पूज्य उपाध्याय जी म. हमें जागृत कर रहे हैं और कह रहे हैं कि हे भव्यात्माओ ! तुम उन कुमत प्ररूपकों का त्याग करो और सद्गुरु का आश्रय कर उनका मार्गदर्शन प्राप्त कर आत्मकल्याण के पथ पर आगे बढ़ो । □

अनिरुद्धं मन एव जनानां ,
जनयति विविधातङ्कम् ।
सपदि सुखानि तदेव विधत्ते ,
आत्मारामममशङ्कं रे ।। सुजना० २१३ ।।

अर्थ - अंकुशरहित मन मिथ्यात्व आदि विविध प्रकार की उपाधियाँ पैदा करता है और वही निग्रहित मन निःशंक रूप से सुख भी प्रदान करता है ।। २१३ ।।

विवेचन

मन का निग्रह करो

किसी महर्षि ने ठीक ही कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

मन ही मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति का कारण है ।

अनिग्रहित/अंकुशरहित मन आत्मा की अधोगति कराता है और निग्रहित मन आत्मा को ऊँचा उठाता है ।

आत्मा मन की सहायता से ही शुभ-अशुभ अध्यवसाय करती है । यदि मन शुभ विचारों में जुड़ा हुआ होता है तो आत्मा के अध्यवसाय भी शुभ होते हैं । शुभ अध्यवसाय से आत्मा शुभ कर्म का बंध करती है और मन के अशुभ-अध्यवसायों से आत्मा अशुभ कर्मों का बन्ध करती है । अशुभ कर्मों के बन्ध से आत्मा नये-नये दुःखों का अनुभव करती है और यदि यह मन शुभध्यान में जुड़ जाय तो वह आत्मा पर से कर्मों की महान् निर्जरा भी करा सकता है । शुक्लध्यान के बल से आत्मा समस्त घातिकर्मों की निर्जरा कर सकती है ।

निग्रहित मन को शुभध्यान में जोड़ा जा सकता है, परन्तु यदि मन को वशीभूत करना नहीं सीखे हैं तो वह सदैव अशुभ विचारों में ही परिभ्रमण करेगा ।

अनादिकालीन कुसंस्कारों के कारण अपना मन अशुभ भावों/विचारों में शीघ्र प्रवेश कर जाता है, किन्तु उसको शुभ भावों में जोड़ने के लिए अत्यधिक प्रयत्न करना पड़ता है, क्यों ? आत्मा पर शुभ विचारों के संस्कार अत्यल्प प्रमाण में हैं। अतः यदि आप भव-बन्धन से मुक्त बनना चाहते हो तो सर्वप्रथम आपको अपने मन पर नियंत्रण लगाना होगा। नियंत्रित मन से ही आप शुभ विचार कर सकते हैं अथवा उसे शुभ विचारों में जोड़ सकते हैं, परन्तु यदि मन स्वच्छन्द और स्वतंत्र है तो उसे शुभ विचारों में केन्द्रित करना कठिन हो जाएगा।

आत्म-विकास के लिए मन का संयमित होना अत्यन्त अनिवार्य है। □

परिहरतास्रवविकथागारव-
मदनमनादि - वयस्यम्।
क्रियतां सांवर - साप्तपदीनं,
ध्रुवमिदमेव रहस्यं रे ।। सुजना० २१४ ।।

अर्थ—अनादिकाल से सहचारी बने आस्रव, विकथा, गारव तथा मदन का त्याग करो और संवर रूप सच्चे मित्र का आदर करो, यही सच्चा रहस्य है ।। २१४ ।।

विवेचन

संवर ही सच्चा मित्र है

करुणासिन्धु पूज्य उपाध्यायजी म. अत्यन्त ही संक्षेप में कल्याण की राह दिखलाते हुए फरमाते हैं कि हे भव्यात्मन्।

तू अनादि के मित्र (?) स्वरूप आस्रव, विकथा, गौरव और काम का संग त्याग दे और संवर को अपना मित्र मान ले।

आस्रव के ४२ भेदों का विस्तार से वर्णन 'आस्रव-भावना' में किया जा चुका है, अतः उसकी पुनरावृत्ति यहाँ नहीं करते हैं।

विकथा अर्थात् ऐसी बातचीत/वार्तालाप जिससे आत्मा का अहित हो। विकथा के चार भेद हैं—

(१) **स्त्री-कथा**—जिसमें स्त्री के रूप, वैभव, अंग, उपांग, वस्त्र, अलंकार तथा सौन्दर्य आदि का वर्णन हो, ऐसी स्त्री-कथा करने से काम-वासना प्रज्वलित होती है और स्त्री सम्बन्धी राग बढ़ता है।

(२) **देश-कथा**—किसी देश या क्षेत्र की समृद्धि, वैभव आदि सम्बन्धी बातचीत करना। अहो! उस देश में तो कितना धन है! 'अहो! उस देश में आधुनिक फैशन के कितने अधिक साधन हैं!' इस प्रकार किसी क्षेत्र के भौतिक विकास सम्बन्धी वार्तालाप करने से उस क्षेत्र का अनुराग बढ़ता है, आधुनिक फैशन के साधनों को खरीदने की इच्छा पैदा होती है।

(३) **भक्त-कथा**—भोजन सम्बन्धी बातचीत को भक्त-कथा कहते हैं। "अहो! यह रसोइया कितना होशियार है!" 'इसने कितनी सुन्दर रसोई बनाई है?' 'अहो! आज का भोजन कितना अच्छा है?'

'वाह। इसे कहते हैं गुलाबजामुन। कितने सुन्दर बने हैं।

इस प्रकार भोजन के गुण-दोष सम्बन्धी वार्तालाप से राग-द्वेष भाव बढ़ते हैं और आहार की आसक्ति दृढ़ बनती है।

(४) राज-कथा—राज्य, शासक तथा राज्याधिकारी सम्बन्धी वार्तालाप को राज-कथा कहते हैं। 'वह राजा कितना अच्छा है।' 'उस राजा ने अच्छा युद्ध किया।' 'वह राजा तो कायर है।' इत्यादि वार्तालाप से व्यर्थ ही राग-द्वेष की परिणति बढ़ती है और आत्मा कर्म-बन्धन से ग्रस्त बनती है।

गारव— (क) ऋद्धि गारव—पूर्व के पुण्योदय से प्राप्त लक्ष्मी, धन, वैभव आदि ऋद्धि का अभिमान करना, धन में आसक्त बनना इत्यादि।

(ख) रस गारव—खाने-पीने की अनुकूल वस्तुओं पर अभिमान करना, उनमें आसक्त बनना, इत्यादि।

(ग) शाता गारव—शरीर की हृष्टपुष्टता, स्वस्थता आदि का अभिमान करना तथा उसमें आसक्त होना।

काम—काम यह आत्मा का भयंकर शत्रु है, परन्तु हमने उसे मित्र मान लिया है। उसे अपना मित्र मानकर हम उसके अनुरूप आचरण कर रहे हैं। काम में आसक्त बनकर/कामान्ध बनकर आज तक अनेक आत्माओं ने अपना विनाश ही किया है।

हे भव्यात्मन्! उन काम आदि भयंकर शत्रुओं का तू त्याग कर और संवर के साधनों को अपना मित्र मान। संवर के साधनों का विस्तृत वर्णन 'संवर-भावना' में हो चुका है, अतः उसका पुनः आलेखन यहाँ नहीं किया जा रहा है। □

सहात इह किं भवकान्तारे,
गद-निकुरम्ब-मपारम् ।
अनुसरता हितजगदुपकारं,
जिनपतिमगदङ्कारं रे ।। सुजना० २१५ ।।

अर्थ—इस भवाटवी में अपार द्रव्य और भाव रोगों को तुम क्यों सहन करते हो ? समस्त जगत् पर उपकार करने में दृढ़ प्रतिज्ञावन्त जिनेश्वरदेव रूप भाव वैद्य का अनुसरण करो, जिससे तुम्हारे समस्त द्रव्य और भाव रोग शान्त हो जायें और तुम्हें सुख प्राप्त हो ।। २१५ ।।

विवेचन

जिनेश्वरदेव भाव-वैद्य हैं

हे भव्यात्मन् ! तू अनन्त शक्ति का पुञ्ज है। तुझ में अनन्त शक्ति रही हुई है। तू अक्षय-सुख का भण्डार है। तेरा जीवन शाश्वत है····परन्तु वर्तमान में तेरी यह दुर्दशा ? ओह ! रोटी के एक टुकड़े के लिए तू भीख मांग रहा है····थोड़ी सी धन-समृद्धि के लिए तू दीनता कर रहा है ? अहो ! इस प्रकार तेरा देह रोगों का शिकार बना हुआ है। तेरी यह कैसी दुर्दशा हो गई है ? तू दीन, हीन, रंक और दरिद्री अवस्था का अनुभव कर रहा है।

अहो ! तू इस प्रकार के द्रव्य और भाव रोगों से क्यों दुःखी हो रहा है ?

जगत् के उपकारी जिनेश्वरदेव का अनुसरण क्यों नहीं

करता है? वे इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ वैद्य हैं, तू अपने रोगों का निदान उनके पास करा ले। वे कुशल वैद्य हैं। आत्मा के समस्त भाव रोगों को निर्मूल करने की औषधियाँ उनके पास है।

हे भव्यात्मन्! तू व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। तीर्थंकर परमात्मा भाव-वैद्य हैं, उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर तू भाव रोग में से सदा के लिए मुक्त बन जा।

जो आत्मा तीर्थंकर परमात्मा की शरणागति स्वीकार करती है···उनकी आज्ञा का पूर्ण पालन करती है, वह आत्मा अल्प समय में ही भव रोग से सर्वथा मुक्त बन जाती है।

तीर्थंकर परमात्मा एक कुशल वैद्य हैं, वे रोग के निदान और उसकी चिकित्सा को अच्छी तरह से जानते हैं।

जिस आत्मा को जिस तरह का रोग लगा हुआ है, उस रोग को किस औषधि से दूर किया जा सकता है? इस ज्ञान में वे पूर्ण कुशल हैं, अतः आत्म-हित चाहने वाले हे मुमुक्षु भव्यात्मन्! तुम्हारे लिए तो जिनेश्वरदेव रूप कुशल वैद्य का अनुसरण करना ही हितकर है। □

शृणुतैकं विनयोदितवचनं,
नियतायतिहित - रचनम्।
रचयत सुकृत-सुख-शतसन्धानं,
शान्त - सुधारसपानं रे॥ सुजना० २१६॥

अर्थ—अन्त में अवश्य हित करने वाले विनय के उपलक्षण से (विनय विजयजी म. द्वारा) कहा गया एक वचन तुम सुनो और सैकड़ों प्रकार से सुकृत तथा अनुपम के जोड़ने वाले शान्त सुधारस का पान करो ।। २१६ ।।

विवेचन

शान्त सुधारस का पान करो

अन्त में ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि परिणाम में एकान्त हितकर ऐसे मेरे एक वचन को सुनो। सैकड़ों सुकृतों के साथ अपनी आत्मा को जोड़ने वाले 'शान्त सुधारस' का बारबार अमीपान करो।

ग्रन्थकार ने 'विनय' शब्द से अपना नाम निर्देश भी किया है और उसका दूसरा अर्थ 'विशेष प्रकार से नय को जानने वाले' भी होता है।

यह करुणा भावना 'शान्त सुधारस' का ही एक अंग है। अतः अपनी आत्मा को पुष्ट करने के लिए बारंबार इस भावना को भावित करो। इस प्रकार करुणा आदि भावनाओं के भावन से आत्मा पुण्यानुबन्धी पुण्य का अर्जन करती है, यह पुण्य आत्मा को अनेकविध सुकृतों के साथ जोड़ देता है।

'शान्त सुधारस' रूप इस ग्रन्थ के बारंबार स्वाध्याय से आत्मा शान्त-प्रशान्त बनती है।

16

माध्यस्थ्य भावना

श्रान्ता यस्मिन् विश्रमं संश्रयन्ते,
रुग्णाः प्रीतिं यत्समासाद्य सद्यः।
लभ्यं राग-द्वेषविद्वेषिरोधा-
दौदासीन्यं सर्वदा तत् प्रियं नः ॥ २१७ ॥
(शालिनी)

अर्थ—जिस उदासीनता को प्राप्त कर श्रमित जन विश्राम प्राप्त करते हैं और रोगी जन प्रीति प्राप्त करते हैं, राग-द्वेष रूप शत्रु का रोध करने से उसे (उदासीनता को) प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा औदासीन्य हमें सर्वदा प्रिय है ॥ २१७ ॥

विवेचन

उदासीन/मध्यस्थ बनो

मुमुक्षु आत्मा के हृदय में अपार करुणा होती है, उसके हृदय में सभी दुःखी आत्माओं के प्रति करुणा होती है। वह उन सब आत्माओं को मोक्ष-अनुरागी देखना चाहती है। परन्तु दुनिया में ऐसी भी आत्माएँ हैं जो अपने तीव्र पापोदय के कारण मोक्ष-

मार्ग से दूर ही रहती हैं, इतना ही नहीं यदि उन्हें धर्म का उपदेश दिया जाय तो भी वह उनके क्रोधादि को अभिवृद्धि का ही कारण बनता है। जिस प्रकार सर्प को पिलाया गया दूध भी विष में रूपान्तरित हो जाता है, उसी प्रकार अत्यन्त पापी, क्रूर और निष्ठुर आत्माओं को दिया गया हितोपदेश भी अनर्थ की परम्परा का सर्जन करता है।

पंचतंत्र में एक सुघरी पक्षी और एक बन्दर की कथा इस बात की साक्षी है। भयंकर वर्षा की ठण्डी लहरों से ठिठुरते हुए बन्दर को देख, उस पक्षी ने कहा-"अरे! तुम इस प्रकार ठण्ड से ठिठुर रहे हो? तुमने अपने रहने के लिए घोंसला क्यों नहीं बनाया?"

उस पक्षी ने तो बन्दर को अच्छी सलाह दी थी, किन्तु इस सलाह को सुनकर उस बन्दर को गुस्सा आ गया और उसने कहा-"अरे! तू कौन है, मुझे कहने वाली?" इतना कहकर उसने एक छलांग लगाई और उस पक्षी के घोंसले को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

दुनिया में ऐसी क्रूर वृत्ति वाले बहुत से लोग होते हैं, जिन्हें भले ही अच्छी सलाह दी जाय, फिर भी परिणाम बुरा ही आता है।

इस दुनिया में निष्कारण उपकारीजन बहुत कम मिलते हैं। अपने उपकारी के प्रति उपकार करने वाले जन कुछ मिल जाएंगे। इसके साथ दुनिया में कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जिन्हें दूसरे का अहित करने में ही आनन्द आता है। यदि कोई उन पर उपकार भी करे तो भी वे इस उपकार का बदला अपकार से ही देते हैं।

ऐसे क्रूर, हिंसक, व्यभिचारी, पापी, शराबी, शिकारी जीवों को देखकर हमारे हृदय में उनके प्रति द्वेष अथवा दुर्भावना पैदा न हो जाय, इसके लिए तीर्थंकर भगवन्तों ने यह 'माध्यस्थ्य भावना' बतलाई है, अर्थात् उन जीवों के प्रति भी हमारे हृदय में द्वेष-भाव नहीं आना चाहिये; बल्कि उनके प्रति हमें मध्यस्थ/उदासीन रहना चाहिये।

राग और द्वेष से मुक्त बनना यही मुक्ति का मार्ग है। संसार में रहते हुए हमें अनेकविध जीवों के सम्पर्क में आना पड़ता है, अतः पापी व क्रूर जीवों को देखकर, हमारे हृदय में द्वेष की भावना पैदा नहीं होनी चाहिये। उन जीवों की कर्म परिणति का विचार कर हमें मात्र उदासीन रह जाना है। यहाँ उदासीनता से तात्पर्य खेदग्रस्त बनना नहीं है, बल्कि उन क्रूर जीवों के प्रति उपेक्षा भाव, तटस्थ भाव, मौन भाव, मध्यस्थ भाव धारण करना है।

इस औदासीन्य (मध्यस्थ) भाव की प्राप्ति राग और द्वेष के निरोध से होती है।

राग और द्वेष के परिणामों से अपना मन चंचल हो जाता है, आत्म-स्थिरता समाप्त हो जाती है। राग-द्वेष की उपस्थिति में मध्यस्थ रहना शक्य नहीं है। राग-द्वेष के निरोध से ही आत्मा मध्यस्थ बन सकती है।

जिस प्रकार भयंकर गर्मी में लम्बी पद-यात्रा करने से व्यक्ति थककर चूर हो जाता है, बदन में से पसीना छूटने लगता है और सम्पूर्ण देह श्रमित हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि मार्ग में छायादार वृक्ष और ठण्डा जल मिल जाय तो व्यक्ति का श्रम दूर

हो जाता है और उसका चित्त प्रसन्न हो जाता है इसी प्रकार इस संसार में अनन्त काल से परिभ्रमण करने के कारण हमारी आत्मा श्रमित बन चुकी है। औदासीन्य भावना के भावन से उसकी वह थकावट तुरन्त दूर हो जाती है।

रोगी व्यक्ति को औषधि मिलने पर जैसा आनन्द आता है, वैसा ही आनन्द मुमुक्षु आत्मा को इस औदासीन्य भावना से आता है।

यह माध्यस्थ्य भावना राग-द्वेष रूपी रोगों का सुन्दर इलाज है, इसके सेवन से आत्मा की थकावट दूर होती है और वह परमानन्द की अनुभूति करती है। □

लोके लोका भिन्न-भिन्नस्वरूपाः,
भिन्नैर्भिन्नैः कर्मभिर्मर्मभिद्भिः।
रम्यारम्यैश्चेष्टितैः कस्य कस्य,
तद्विद्वद्भिः स्तूयते रुष्यते वा ॥ २१८ ॥
(शालिनी)

अर्थ—मर्मस्थल को भेदने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों को लेकर इस लोक में प्राणी भिन्न-भिन्न स्वरूप/आकार में दिखाई देते हैं। उनके सुन्दर और असुन्दर आचरणों को जानने वाले बुद्धिमान् मनुष्य इनमें किनकी प्रशसा करे और किन पर रोष करे? ॥ २१८ ॥

विवेचन

जगत् की विचित्र स्थिति

इस विराट् संसार में अनन्तानन्त आत्माएँ हैं। वे सब

कर्माधीन हैं। अपने-अपने कर्म के अनुसार सभी जीवात्माएँ सुख-दुःख आदि प्राप्त करती हैं।

सभी जीवात्माओं के कर्मों में तरतमता है, इस तरतमता के कारण ही सभी जीवों की स्थिति समान नहीं है।

किसी आत्मा के मोहनीय कर्म का तीव्र उदय है, इस कारण वह रागान्ध/कामान्ध बन गया है। अपने छोटे भाई की पत्नी के प्रति ही मोहित बन गया है, वह उसके रूप का पिपासु है। परन्तु छोटे भाई की पत्नी एक सती सन्नारी है, वह अपने ज्येष्ठ से हितकर बात करती है। परन्तु वह कामान्ध व्यक्ति भाई की पत्नी को पाने के लिए अपने हाथों ही भाई की हत्या कर देता है। परन्तु वह सती सन्नारी अपने शील के रक्षण के लिए जंगल में पलायन कर जाती है, इधर उस कामान्ध व्यक्ति की भी सर्पदंश से मृत्यु हो जाती है और वह मरकर नरक में चला जाता है।

···और देखो उस तापस को। कितना उग्र तप कर रहा है! मासक्षमण के पारणे मासक्षमण! लाखों वर्षों से वह यह तपस्या कर रहा है···परन्तु आज वह क्रोध के अधीन बन गया है। तप से शरीर को कृश कर दिया है, परन्तु कषायों को कृश नहीं कर पाया।

अहो! उस हृदय में क्रोध की ज्वालाएँ कितनी भड़क रही हैं? वह तापस उस राजा को हर भव में अपने हाथों से मारने का निदान कर रहा है।

···और वह मम्मण सेठ! अहो! अपार धन-सम्पत्ति

उसके पास है, किन्तु उसके लोभ की सीमा नहीं है। भयंकर बाढ़ में बह रहे लकड़ों को वह खींच रहा है। इस प्रकार धन में आसक्त बना वह न दान देता है और न ही उस धन का उपभोग करता है। यह कैसी लोभान्धता है!

जरा सूर्यकान्ता महारानी को देखें। अहो! कुछ समय पूर्व उसके हृदय में अपने पति के प्रति कितना अधिक राग था! किन्तु आज वही महारानी अपने स्वामी को जहर का प्याला पिला रही है और गला दबोचकर पति की हत्या कर रही है।

बड़ा ही विचित्र है यह संसार। कोई रागान्ध है तो कोई क्रोधान्ध है। कोई दीनता कर रहा है तो कोई अभिमान कर रहा है। कोई माया में लीन है तो कोई अत्यन्त ही सरल है। कोई अत्यन्त ही सन्तोषी है तो किसी के लोभ की कोई सीमा ही नहीं है।

इस विचित्रता से परिपूर्ण संसार में सभी जीव अपने-अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के वेष परिधान कर रहे हैं।

इस प्रकार संसार की विचित्रता के दर्शन कर हे भव्यात्मन्! तू राग और द्वेष का त्याग कर दे।

सभी जीव अपने-अपने कर्मों के आधीन हैं और कर्म के अनुसार ही प्रवृत्ति-निवृत्ति कर रहे हैं, अतः किसकी स्तुति करें? और किसकी निन्दा करें? अर्थात् अन्य जीवों की वृत्ति-प्रवृत्ति को देखने के बजाय आत्म-निरीक्षण करना ही लाभकारी है। क्योंकि आत्म-निरीक्षण कर सत् में प्रवृत्ति और असत् से निवृत्ति लेना ही श्रेयस्कर है। □

मिथ्या शंसन् वीरतीर्थेश्वरेण,
रोद्धुं शेके न स्वशिष्यो जमालिः।
अन्यः को वा रोत्स्यते केन पापात्,
तस्मादौदासीन्यमेवात्मनीनम् ॥ २१९ ॥
(शालिनी)

अर्थ—स्वयं तीर्थंकर परमात्मा महावीर स्वामी भी अपने शिष्य जमाली को विरुद्ध प्ररूपणा करते हुए रोक नहीं सके, तो फिर कौन किसको पाप से रोक सकता है ? अतः उदासीनता ही आत्महितकर है ॥ २१९ ॥

विवेचन

उदासीनता ही आत्महितकर है

हे भव्यात्मन् ! तेरी यह इच्छा है कि 'मैं सबको सुधार दूँ।' और इसी भावना से प्रेरित होकर तू उपदेश देता है और अन्य को बारबार प्रेरणा करता रहता है। परन्तु यह जरूरी नहीं है कि सभी तुम्हारी प्रेरणाओं को स्वीकार कर लें....सभी तुम्हारे उपदेश का अनुसरण कर लें....। क्योंकि सभी जीव अपने-अपने कर्म के आधीन हैं, सभी जीवों की भवितव्यता भिन्न है। सभी जीवों की योग्यता में अन्तर है, अतः कोई जीव जल्दी प्रतिबोध पा जाता है और कोई भारी कर्मी जीव प्रतिबोध देने पर भी प्रतिबोध नहीं पाता है। सांसारिक जीवों को इस विचित्र स्थिति को देखकर, यदि कोई आत्मा बोध न पाए तो भी तू खेद मत कर, बल्कि औदासीन्य भावना से अपनी आत्मा को भावित कर दे।

तू याद कर, भगवान महावीर और उनके शिष्य जमाली को। उनका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था ? सांसारिक दृष्टि से जमाली प्रभु महावीर के दामाद थे और धार्मिक दृष्टि से भगवान महावीर गुरु थे और जमाली उनके शिष्य।

....परन्तु कर्म की विचित्रता के कारण जमाली ने भगवान महावीर के एक वचन को स्वीकार नहीं किया। भगवान महावीर के 'कड़ेमाणे कड़े' वचन को असिद्ध करने के लिए जमाली अनेक कुतर्क करने लगा। भगवान महावीर तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे, उनके वचनों में किसी प्रकार की संदिग्धता नहीं थी, उनके वचन असंदिग्ध थे। परन्तु मोह की विचित्र गति है। भगवान महावीर के शिष्यों ने जमाली को समझाने की बहुत कोशिश की, परन्तु वह नहीं समझा उसने अपना कदाग्रह/हठाग्रह नहीं छोड़ा। हे भव्यात्मन् ! इस घटना पर तू कुछ विचार कर।

भगवान महावीर सर्वज्ञ थे, अनन्त शक्ति के पुञ्ज थे, फिर भी उन्होंने जबरन जमाली को नहीं समझाया, तो फिर यदि कोई आत्मा तेरे हितकारी मार्गदर्शन को स्वीकार नहीं करता है, तो इसमें तुझे रोष करने की क्या आवश्यकता है ? अथवा निराश होने की भी क्या आवश्यकता है। तू उसकी भवितव्यता का विचार कर, उसके प्रति उदासीन बन जा। यही तेरे लिए हितकर मार्ग है। □

अर्हन्तोऽपि प्राज्यशक्तिस्पृशः किं,
धर्मोद्योगं कारयेयुः प्रसह्य।
दद्युः शुद्धं किन्तु धर्मोपदेशं,
यत्कुर्वाणा दुस्तरं निस्तरन्ति ।। २२० ।।
(शालिनी)

अर्थ—तीर्थंकर परमात्मा असाधारण शक्ति सम्पन्न होते हैं, फिर भी क्या वे बलात्कार से किसी के पास धर्म कराते हैं? अर्थात् नहीं कराते हैं। किंतु वे शुद्ध धर्म का उपदेश अवश्य देते हैं, जिसका पालन कर भव्य प्राणी भवसागर तैर जाते हैं ।। २२० ।।

विवेचन

धर्म का ग्रहण स्वैच्छिक होता है

अरिहन्त परमात्मा अनन्तशक्ति के तेजस्वी पुञ्ज होते हैं। उनके पास अनन्त शक्तियाँ होती हैं। फिर भी वे किसी को धर्म स्वीकार करने के लिए जोर जबरदस्ती नहीं करते हैं। उनके हृदय में समस्त जीवों के प्रति करुणा होते हुए भी वे बलात्कार से किसी को धर्म नहीं देते हैं, बल्कि सहज भाव से शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं। इस प्रकार के धर्मोपदेश में न तो उनके हृदय में किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा होती है, न ही उन्हें अपने तीर्थ का राग।

उनका विहार भी सहज भाव से होता है, उन्हें न द्रव्य का बन्धन है और न क्षेत्र का, उन्हें न काल का बन्धन है और न ही भाव का। वे सहज भाव से विचरते हैं···सहज भाव से धर्मोपदेश देते हैं ···और सहज भाव से जीते हैं।

इस प्रकार उनके साहजिक और विशुद्ध उपदेश का भावपूर्वक श्रवण करने से अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोध हो जाता है और वे ससार का त्याग कर अपना जीवन समर्पित कर देती हैं।

धर्म कोई बलात्कार से देने की वस्तु नहीं है। धर्म कोई जैसे-तैसे वितरण करने की वस्तु नहीं है। धर्म तो घी के समान है। घी सबको नहीं पिलाया जाता है, जिसमें घी पचाने की ताकत हो, उसी के लिए घी लाभकारी है। जो व्यक्ति छाछ और दूध भी नहीं पचा सकता है, उसको घी पिला देने से तो नुकसान की ही सम्भावना रहती है।

अतः धर्म भी योग्य और पात्र जीवों को ही देने का है। अपात्र जीव, धर्म को प्राप्त कर भी अपना अहित ही करता है।

जिस प्रकार आग जिलाती भी है और जलाती भी है। जो आग का सदुपयोग करना जानता है, उसके लिए आग जीवन का अंग है और जिसे आग का उपयोग करना नहीं आता है, उस व्यक्ति को आग जलाकर समाप्त कर देती है।

इसी प्रकार जो धर्म को बराबर समझता है, उसके लिए धर्म तारक है और जो धर्म को बराबर न समझकर, उसका स्वेच्छानुसार उपयोग करता है, उसके लिए धर्म घातक भी सिद्ध हो जाता है।

अतः मात्र 'धर्म-प्रचार' के एकांगी विचार को नहीं पकड़ना चाहिये, बल्कि पात्रता देखकर ही धर्म का दान करना चाहिये। □

तस्मादौदासीन्यपीयूषसारं ,
वारं वारं हन्त सन्तो लिहन्तु।
आनन्दानामुत्तरङ्गैरुत्तरङ्गै-
र्जीवद्भिर्यद् भुज्यते मुक्तिसौख्यम् ।। २२१ ।।
(शालिनी)

अर्थ—अतः सभी सन्त पुरुष उदासीनता रूपी अमृत का बारम्बार पान करें और आनन्द की उछलती तरंगों के द्वारा प्राणीमुक्ति के सुख को प्राप्त करें हैं ।। २२१ ।।

विवेचन

उदासीन भाव अमृत तुल्य है

यह उदासीन भाव सारभूत अमृत तुल्य है। संत पुरुष इस अमृत का बारंबार पान करते हैं। जिसे यह संसार बन्धन-रूप लगा हो और जो आत्मा ससार के बन्धनों में से मुक्त बनना चाहती है, उसी आत्मा को यह भावना अमृत तुल्य लगती है। क्योंकि यह औदासीन्य भावना आत्मा को मध्यस्थ व तटस्थ बनाती है।

हमारी आत्मा का झुकाव कभी राग की ओर होता है, तो कभी द्वेष की ओर। इस औदासीन्य भावना के अभ्यास से हमारी आत्मा मध्यस्थ-तटस्थ बनने लगती है, फिर हमारी आत्मा का झुकाव न राग की ओर होगा और न ही द्वेष की ओर। ऐसी स्थिति आने पर आत्मा प्रशम रस के महासागर में निमग्न हो जाएगी। प्रशम रस का सुख अनुपम सुख है, उस सुख का एक बार भी स्वाद आ जाय ···तो फिर सांसारिक सुख की इच्छा ही समाप्त हो जाती है। जिस सुख का अनुभव देव-देवेन्द्र और चक्रवर्ती के लिए भी दुर्लभ है, उस सुख का अनुभव प्रशमरस में निमग्न आत्मा कर लेती है।

मोक्ष का सुख परोक्ष और दुर्लभ है, किन्तु प्रशम का सुख तो सुलभ है न ! हे भव्यात्मन् ! तू इस सुख का आस्वादन कर।

हाँ, इस सुख के आस्वादन के लिए एक शर्त है—'तुझ औदासीन्य भावना के अमृत का आस्वादन करना होगा।'

उदासीनता से व्यक्ति मध्यस्थ बनता है—न राग की ओर झुकाव और न ही द्वेष की ओर झुकाव।

इस आनन्द का अनुभव सन्त पुरुष करते हैं। एक बार इस आनन्द की अनुभूति हो जाने के बाद क्रमशः यह आनन्द दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जाता है और अन्त में आत्मा मुक्ति के परम सुख का अनुभव करती है; आत्मा शाश्वत सुख की भोक्ता बन जाती है।

बस, एक मात्र शुद्ध, बुद्ध और परमानन्द स्वरूप को आत्मा प्राप्त कर लेती है। आनन्द····आनन्द और आनन्द ही एक मात्र आत्मा का स्वरूप बन जाता है। □

He that is overcautious will accomplish little.

•

Do you wish people to sp ak well of you, then do not speak at all of yourself.

षोडशभावनाष्टकम्

(प्रभाती राग)

अनुभव विनय ! सदा सुखमनुभव ,
औदासीन्यमुदारं रे ।
कुशलसमागममागमसारं ,
कामित - फलमन्दारं रे ।। अनुभव० २२२ ।।

अर्थ—हे विनय ! तू सदैव उदासीनता रूप उदार सुख का अनुभव कर। क्योंकि यह आगम-सिद्धान्त के सार रूप मोक्ष-पद की प्राप्ति कराने वाला है तथा इष्टफल को देने में कल्पवृक्ष के समान है ।। २२२ ।।

विवेचन

उदासीन भाव कल्पवृक्ष है

पूज्यपाद ग्रन्थकार महर्षि आत्मसम्बोधन करते हुए फरमाते हैं कि हे विनय ! हे आत्मन् ! तू उदासीनता के नित्य सुख का अनुभव कर।

क्षणिक पदार्थों के राग भाव को दूर करने के लिए महापुरुषों ने अनित्य आदि भावनाओं का निर्देश किया है, जबकि जीवत्व के

द्वेष को दूर करने के लिए महापुरुषों ने मैत्री आदि चार भावनाएँ बतलाई हैं।

इस संसार में ऐसे अनेक प्राणी हैं, जिनको हितकर बात भी अत्यन्त कटु लगती है। वे अपने आत्म-हित के प्रति पूर्णतया बेपरवाह होते हैं। उन्हें तो इस जीवन के क्षणिक सुखों में ही आनन्द आता है और येन केन प्रकारेण उन सुखों को पाने के लिए वे दौड़धूप करते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें भयंकर पाप-कर्म करने पड़ें। भयंकर पापप्रवृत्ति को करते हुए भी उनके हृदय में लेश भी पीड़ा नहीं होती है। साग और तरकारी की तरह वे बड़े-बड़े पशुओं को और मनुष्यों को भी चीर डालते हैं। किसी की हत्या करने में उन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती है। उन्हें पाप से भय नहीं होता है, बल्कि वे उसमें पूर्णतया आसक्त होते हैं। किसी जीव को मरते हुए तड़फते हुए देखने में ही उन्हें आनन्द आता है।

ऐसी क्रूरवृत्ति वाले लोगों के प्रति हमारे मन में (अनादि के द्वेष भाव के संस्कारों के कारण) घृणा का भाव आना स्वाभाविक है, परन्तु वह घृणा का भाव हमारी आत्मा के लिए हितकर नहीं है, अतः ऐसी परिस्थिति में हमें उदासीन व तटस्थ रहना है और इस माध्यस्थ्य-औदासीन्य भावना से आत्मा को भावित करना है।

यह उदासीनता परम आनन्ददायी है और आत्मा के शाश्वत सुख के साथ हमारा सम्बन्ध कराने वाली है। इष्टफल को देने में यह कल्पवृक्ष के समान है।

यह औदासीन्य वृत्ति जिनागमों का सार है। उपशम भाव

यह तो प्रवचन का सार है। जो आत्मा औदासीन्यभाव को आत्मसात् कर लेती है, उस आत्मा ने जिनागम के सारभूत तत्त्व को ग्रहण कर लिया है। वह आत्मा क्रमशः अपने इष्ट फल को पाने में तत्पर बनती जाती है। □

परिहर रपचिन्तापरिवारं,
चिन्तय निजमविकारं रे।
वदति कोऽपि चिनोति करीरं,
चिनुतेऽन्यः सहकारं रे॥ अनुभव० २२३॥

अर्थ—पर-पुद्गल की चिन्ता का तू त्याग कर दे और आत्मा के अविकारी आत्मस्वरूप का तू चिन्तन कर। कोई मुख से बड़ी-बड़ी बातें ही करते हैं, किन्तु वे केरड़ा ही पाते हैं, जबकि परिश्रम करने वाले आम्र की प्राप्ति करते हैं॥ २२३॥

विवेचन

आत्मा का चिन्तन करो

हे आत्मन्! तू अन्य की चिन्ता का त्याग कर दे और अपनी आत्मा के अविकारी स्वरूप में लीन बन जा।

एक ही पंक्ति में ग्रन्थकार महर्षि ने हमें आनन्द की चाबी दे दी है।

इस संसार में आत्मा दुःखी बनती है पर-भाव में रमणता से। जो अपना नहीं है, उसे अपना मानकर, उसकी प्राप्ति, उसके संरक्षण आदि की चिन्ता में व्यग्र बनना परभाव-रमणता

है। धन, धान्य, पत्नी, पुत्र, परिवार, मकान, दूकान, जायदाद, सम्पत्ति व यह देह अपने नहीं हैं। परन्तु हमने इन सबको अपना मान लिया है। विनाशी देह में ही हमने आत्मबुद्धि कर ली है। 'मैं आत्मा हूँ' और 'ज्ञान-दर्शन-चरित्र मेरी आत्म-सम्पत्ति हैं' इस बात को हम सर्वथा भूल गए हैं। सतत बहिर्भाव में ही जी रहे हैं। इसके परिणाम-स्वरूप हम सतत पौद्गलिक चीजों को चिन्ता से ग्रस्त बने हैं। हमें धनार्जन की चिन्ता है....अर्जित धन के रक्षण की चिन्ता है....पुत्र-परिवार की चिन्ता है....उन्हें कोई तकलीफ न आ जाय, इसके लिए हम पूर्ण जागरूक हैं...परन्तु दूसरी ओर हमारी आत्मसम्पत्ति सतत लूटी जा रही हैं और हम दरिद्र-कंगाल सी स्थिति में आ चुके हैं, इस बात को हमें लेश भी परवाह नहीं है।

हे आत्मन्! तू इन परभावों की चिन्ता छोड़ दे, क्योंकि इन चिन्ताओं से तुझे कुछ भी फायदा होने वाला नहीं है, तू अपने अविनाशी आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर। तू अजर है, अमर है....अविनाशी है। आग तुझे जला नहीं सकती है, पवन तुझे उड़ा नहीं सकता है....शस्त्र तुझे छेद नहीं सकते हैं। तू आनन्दमय है,....ज्ञानमय है,....सुखमय है....।

'तू निरंजन-निराकार ज्योतिस्वरूप है।' इस प्रकार तू अपने स्वरूप का चिन्तन कर, आत्मानुभूति के लिए प्रयत्नशील बन और अन्य सब झंझट छोड़ दे। अन्य व्यक्ति क्या-क्या प्रवृत्ति करता है? उस प्रवृत्ति के क्या-क्या परिणाम आएंगे? इत्यादि विचार करने की तुझे आवश्यकता नहीं है। तुझे तो उसके प्रति उदासीन/मध्यस्थ हो जाना है।

हे आत्मन्! केवल बातें करने से काम नहीं चलेगा। मोक्ष अथवा निजानन्द की बातें करने से ही मोक्ष का अनुभव होने वाला नहीं है, इस हेतु तुझे प्रयत्न और पुरुषार्थ करना पड़ेगा। जो केवल बातें ही करता है, प्रयत्न नहीं करता है, उसे कुछ नहीं मिलता है और जो प्रयत्न-पुरुषार्थ करता है, उसे आम्रवृक्ष अर्थात् मीठा फल प्राप्त होता है, अतः तू भी आत्म-स्वरूप के चिन्तन और अनुभव के लिए प्रयत्नशील बन। □

योऽपि न सहते हितमुपदेशं,
तदुपरि मा कुरु कोपं रे।
निष्फलया किं परजनतप्त्या,
कुरुषे निजसुखलोपं रे॥ अनुभव० २२४॥

अर्थ—जो तुम्हारे हितकारी उपदेश को सहन नहीं करते हैं, उन पर तू क्रोध मत कर। व्यर्थ किसी पर क्रोध करके तू अपने स्वाभाविक सुख का लोप क्यों करता है? ॥ २२४ ॥

विवेचन

क्रोध न करो

'हे आत्मन्! तू एक क्रोधी आत्मा को देखकर उसे शान्त बनाना चाहता है और इस हेतु तू उसे उपदेश देता है....उसे योग्य सलाह देता है, परन्तु सम्भव है....वह तेरी बात स्वीकार न भी करे, वह तेरी हितकारी बात की भी उपेक्षा कर दे....शायद वह तेरी बात सुनने के लिए भी तैयार न हो।' ऐसी परिस्थिति में भी हे आत्मन्! तुझे उस पर क्रोध करने का अधिकार नहीं है।

उन्मार्गगामी को मार्ग बतलाना तेरा कर्त्तव्य है। उन्मार्ग-गामी को मार्ग दिखलाकर तूने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया है··· अब तू उस पर व्यर्थ ही गुस्सा क्यों करता है? इस प्रकार गुस्सा करने से क्या वह सुधर जाएगा? शायद तू शान्त रहेगा तो भविष्य में उचित समय पर तू उसे सुधार भी सकेगा··· परन्तु आज और अब घड़ी ही उसे सुधारने की बात करना व्यर्थ ही है।

'·····वह न सुधरे·· तो उसकी भवितव्यता।' तू गुस्सा करके अपनी शान्ति को नष्ट मत कर। क्रोध करने से मन चंचल/अस्थिर बनता है और अस्थिर मन अशान्त हो जाता है।

हे आत्मन्! तू अपने मित्रजन को, स्वजन को, पुत्र आदि को सुधारना चाहता है और इसके लिए तू बहुत मेहनत भी करता है···परन्तु संयोगवश तुझे सफलता न मिले, फिर भी तुझे सन्ताप करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में भी तुझे अपनी स्थिरता बनाए रखना है। □

सूत्रमपास्य जडा· भासन्ते,
केचन मतमुत्सूत्रं रे।
किं कुर्मस्ते परिहृतपयसो,
यदि पीयन्ते मूत्रं रे॥ अनुभव० २२५॥

अर्थ—कई जड़ बुद्धि वाले शास्त्र-वचन का त्याग कर मिथ्या (शास्त्रविरुद्ध) भाषण करते हैं, वे मूढ़ जीव निर्मल जल का त्याग कर मूत्र का पान करते हैं, तो इसमें हम क्या करें? ॥ २२५ ॥

विवेचन

मूढ़जन पर भी गुस्सा मत करो

इस दुनिया में ऐसे अनेक जड़-बुद्धि वाले कदाग्रही पुरुष होते हैं, जो मन्दमति वाले होने पर भी अपने आपको महान् बुद्धिमान समझते हैं और मतिकल्पना के अनुसार शास्त्र के विपरीत अर्थ कर बैठते हैं। उनकी बुद्धि शास्त्र-परिकर्मित न होने से वे शास्त्र-पंक्तियों का भी अपनी इच्छानुसार अर्थ कर लेते हैं।

सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तियों को समझाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। प्रेम से समझ जायें तो ठीक बात है, अन्यथा उनके साथ वाद भी कर सकते हैं। यह 'वाद' भी आत्महित की बुद्धि से ही होना चाहिये, किसी को नीचा दिखाने की कुदृष्टि नहीं होनी चाहिये।

इस प्रकार समझाने पर भी····वाद करने पर भी····सत्य तत्त्व को बतलाने पर भी वह न समझे तो भी उस पर गुस्सा न कर, उसके प्रति माध्यस्थ्य भाव धारण करना चाहिये। यही सोचना चाहिये कि एक व्यक्ति पवित्र दूध का त्याग करके यदि मूत्र पीने की दुश्चेष्टा करता है, तो उसका और क्या उपाय है ?

सूअर के सामने एक ओर क्षीर और दूसरी ओर विष्टा-मलमूत्र रखा जाय तो वह विष्टा में ही मुँह डालेगा, उसे क्षीरान्न का भोजन पसन्द नहीं आता है। मधुर क्षीरान्न का त्याग कर वह विष्टा में अपना मुँह डालता है तो इसमें हमारा क्या दोष

है ? इसी प्रकार शास्त्र तो सन्मार्ग के प्रकाशक हैं, उनके आलम्बन से हम भवसागर पार कर सकते हैं, परन्तु उन शास्त्रों के शब्दों को पकड़कर जो उनके रहस्यार्थ/ऐदंपर्यार्थ को जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं और शास्त्र-प्रवचन-विरुद्ध ही देशना देते हैं और शास्त्रविरुद्ध ही प्रवृत्ति करते हैं, तो आगे हम क्या कर सकते हैं ? □

पश्यसि किं न मनःपरिणामं,
निजनिजगत्यनुसारं रे ।
येन जनेन यथा भवितव्यं,
तद्भवता दुर्वारं रे ।। अनुभव० २२६ ।।

अर्थ—अपनी-अपनी गति के अनुसार जीवों के (शुभाशुभ) परिणाम होते हैं, अतः हे आत्मन् ! तू क्यों नहीं समझता है ? जिस आत्मा की जो गति होने वाली है, उसे तू कैसे रोक सकेगा ? उसे तू नहीं मिटा सकता है ।। २२६ ।।

विवेचन

किसी की भावी को मिथ्या नहीं कर सकते

इस संसार में सभी जीवों के अन्तिम परिणाम उनकी आगामी गति के अनुसार ही होते हैं । 'यथा गति तथा मति ।' आत्मा को जहाँ पैदा होना है, उस गति के अनुसार ही उसके अन्तिम परिणाम होते हैं ।

यदि किसी आत्मा की दुर्गति ही होने वाली है····यदि कोई आत्मा नरकगामी ही है····तो उसके अन्तिम परिणाम क्रूर ही

होंगे····उसे आत्मकल्याण की हितकर बातें अच्छी नहीं लगेंगी। नरकगति के अनुसार उस आत्मा के अशुभ-परिणाम हो जायेंगे···· वह आत्मा अशुभ विचारों में लीन हो जाएगी। उसे अच्छी बातें भी कड़वी लगेंगी।

हर आत्मा अपनी भवितव्यता के अनुसार ही इस संसार में गमनागमन करती है। यदि उस आत्मा की भवितव्यता खराब है····यदि वह आत्मा दीर्घसंसारी है····तो उसे तुम्हारी अच्छी बात भी अच्छी नहीं लगेगी परन्तु इतने मात्र से तुझे निराश होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि तुझे इस बात का पता है कि जो भवितव्यता-भविष्य में होने वाली घटना होती है, उसे किसी भी प्रकार से टाला नहीं जा सकता है। यावत् तीर्थंकर परमात्मा भी किसी की भवितव्यता को बदलने में समर्थ नहीं है। तो फिर अपनी क्या हैसियत है? कई बार हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति ने जीवन भर धर्म की आराधना की हो····परन्तु उस आत्मा ने दुर्गति के आयुष्य का बन्ध कर लिया हो तो उस आत्मा को अन्तिम समय में शायद धर्म की बात अच्छी न भी लगे, उसे समाधिदायक सूत्रों का श्रवण पसन्द न भी पड़े, धर्मीजन के जीवन में इस प्रकार के विपर्यास। विपरीत भवों को देखकर भी हे आत्मन्! तू खेद मत कर। क्योंकि सबकी अपनी-अपनी भवितव्यता निश्चित है, उसी के अनुसार उनके परिणाम होते हैं। □

रमय हृदा हृदयंगमसमतां,
संवृणु मायाजालं रे।
वृथा वहसि पुद्गल - परवशता-,
मायुः परिमितकालं रे॥ अनुभव० २२७॥

अर्थ—अपने दिल में आनन्ददायी समता को स्थिर कर और मायाजाल का त्याग करदे, तू व्यर्थ ही पुद्गल की पराधीनता भोग रहा है, तेरा आयुष्य तो मर्यादित है ।। २२७ ।।

विवेचन

पुद्गल की पराधीनता छोड़ दो

हे आत्मन् ! तू क्रोधादि कषाय भावों का त्याग कर दे और समता से दिल जोड़ दे। समता से आत्मा अल्प क्षणों में ही भयंकर कर्मों की भी निर्जरा कर देती है।

दृढ़प्रहारी ने चार-चार हत्याएँ की थीं, परन्तु संयम अंगीकार करने के बाद उसने इस प्रकार समता का अभ्यास किया कि एक मात्र छह मास की अल्प अवधि में ही उसने सर्व घातिकर्मों की निर्जरा कर दी।

समता की अपूर्व साधना से गजसुकुमालमुनि ने अल्प समय में ही सर्व कर्मों की निर्जरा कर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर लिया।

समत्व की साधना के द्वारा भगवान महावीर ने दृष्टि-विष सर्प को भी प्रतिबोध दिया।

समत्व की साधना से स्कन्दकाचार्य के ५०० शिष्यों ने मुक्तिपद प्राप्त कर लिया।

समता के लाभों का क्या वर्णन करें ? समतावन्त महा-मुनियों को देवदेवेन्द्र और चक्रवर्ती भी प्रणाम करते हैं। अतः हे आत्मन् ! तू समता का अभ्यास कर।

इसके साथ ही हे आत्मन् ! तू हर प्रकार के माया जाल का त्याग कर दे। माया करने से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है।

मल्लिनाथ ने पूर्वभव में तप के आचरण में माया की थी, इसके परिणामस्वरूप उन्हें तीर्थंकर के भव में भी स्त्री पर्याय प्राप्त हुई।

मायावी व्यक्ति धर्म का अधिकारी नहीं है। जिस प्रकार धागे में गाँठ न हो तो ही उसे सुई में पिरोया जा सकता है, उसी प्रकार सरल व्यक्ति के हृदय में ही धर्म का अवतरण हो सकता है। अतः हे आत्मन्! तू माया-प्रपंच का भी सर्वथा त्याग कर दे।

हे आत्मन्! तू पुद्गल की परवशता का भी त्याग कर दे। पुद्गल तो क्षणिक है, नाशवन्त है, उसके साथ अपना नाता जोड़ना उचित नहीं है। धन, मकान, दुकान, जायदाद आदि सब पुद्गल की ही तो पर्यायें हैं। पुद्गल की पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं, अतः तू उनमें राग भाव का त्याग कर दे, तेरा जीवन अल्पकालीन है····कुछ ही समय के बाद तुझे यहाँ से चल देना है, अतः पौद्गलिक भाव में तू क्यों नाच रहा है? उनकी क्षणिकता का विचार कर तू उनका त्याग कर और आत्मा के साथ अपना प्रेम जोड़ दे। □

अनुपमतीर्थमिदं स्मर चेतन -
मन्तः स्थितमभिरामं रे।
चिरं जीव विशदपरिणामं,
लभसे सुखमविरामं रे॥ अनुभव० २२८॥

अर्थ—अन्दर रही हुई आत्मा ही सुन्दर व अनुपम तीर्थ है, उसे तू याद कर और चिरकाल पर्यन्त निर्मल परिणामों को धारण कर जिससे तुझे अक्षय सुख की प्राप्ति होगी॥ २२८॥

विवेचन

आत्मा ही तीर्थ है

यह आत्मा अनुपम तीर्थ है। तीर्थ अर्थात् जो आत्मा को भवसागर से पार लगाता है। तीर्थ के दो भेद हैं—(१) स्थावर तीर्थ और (२) जंगम तीर्थ। शत्रुंजय, गिरनार आदि स्थावर तीर्थ हैं, जो अपनी आत्मा को भवसागर पार उतरने के लिए श्रेष्ठ आलम्बन स्वरूप हैं। साधु-साध्वी आदि जंगम तीर्थस्वरूप हैं, जिनके आलम्बन से हम आसानी से भवसागर पार कर सकते हैं।

ग्रन्थकार महर्षि अपनी आत्मा को अनुपम तीर्थ स्वरूप बतला रहे हैं। अपनी आत्मा का शुद्ध स्वरूप परमात्म-तुल्य है, अत व्यक्ति जब अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन-ध्यान में मग्न बनता है, तब उसके लिए विशुद्धात्मा तीर्थस्वरूप बन जाती है। यह तीर्थ अनुपम है तथा अपनी आत्मा में ही स्थित है।

आत्मा के विशुद्ध स्वरूप का ध्यान एक सर्वोत्तम ध्यान है। विशुद्ध-आत्मा के ध्यान से हमें परमानन्द की अनुभूति होती है। आत्मा ही सुख का अक्षय भण्डार है, अतः जब आत्मा अपने स्वरूप में लीन बनती है, तब वह अलौकिक परम आनन्द का अनुभव करती है।

आत्मानुभूति का जो आनन्द है, वह आनन्द हमें सांसारिक पदार्थों से कहीं कभी प्राप्त नहीं हो सकता है।

आत्मा स्वय ही सच्चिदानन्द स्वरूप है। आनन्द अपने पास-अत्यन्त पास ही है, परन्तु अनभिज्ञता के कारण हम उस आनन्द को अन्यत्र शोधते हैं।

हे आत्मन्! तू आत्मस्वरूप के चिन्तन में सतत जागरूक

बन। आत्मा की स्मृति ही सच्चा जीवन है और आत्मा की विस्मृति ही मरण है। आत्मा के नित्य स्मरण से आत्मा अनुपम सुख का अनुभव करती है।

परब्रह्मपरिणाम - निदानं ,
स्फुटकेवलविज्ञानम् रे।
विरचय विनयविवेचितज्ञानं ,
शान्त सुधारसपानं रे ।। अनुभव० २२९ ।।

अर्थ—परब्रह्म-परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के निदान रूप तथा निर्मल केवलज्ञान प्रदान करने वाला विनय (पू. उपा. श्री विनय विजयजी म.) द्वारा विवेचित 'शान्त सुधारस' का हे भद्र! तू पान कर ।। २२९ ।।

विवेचन

शान्त सुधारस का पान करो

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी महाराज ने की है। ग्रन्थकार महर्षि ग्रन्थ की समाप्ति पर अपने नाम का निर्देश करते हुए इस शान्त सुधारस का बारम्बार पान करने के लिए प्रेरणा कर रहे हैं।

यह 'शान्त सुधारस' वास्तव में एक अमृतकुम्भ है।

ग्रन्थकार महर्षि औदासीन्य भावना का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि यह औदासीन्य भावना अपनी आत्मा को परब्रह्म की प्राप्ति कराने वाली है।

पर अर्थात् उत्कृष्ट।

ब्रह्म अर्थात् विशुद्ध चैतन्य।

जब आत्मा संसार के समस्त बाह्य भावों के प्रति उदासीन बन जाती है, तब उसकी दृष्टि शत्रु-मित्र में, सुख-दुःख में, अनुकूलता-प्रतिकूलता में, कंचन और काच में समान हो जाती है अर्थात् उसे न तो अनुकूलता में राग होता है और न ही प्रतिकूलता में द्वेष।

इस औदासीन्य भावना की प्रकृष्ट दशा ही आत्मा की वीतराग अवस्था है। वीतराग बन जाने के बाद आत्मा पूर्ण उदासीन बन जाती है। इस प्रकार औदासीन्य भावना आत्मा को वीतराग दशा की ओर आगे बढ़ने का ही एक कदम है।

वीतराग बनने के तुरन्त बाद आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय कर निर्मल केवलज्ञान को प्राप्त करती है, इस प्रकार यह भावना वीतरागदशा और केवलज्ञान की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है।

अपने दैनिक जीवन-व्यवहार में यदि हम माध्यस्थ्य भावना को आत्मसात् कर लें तो हमारे जीवन की अनेकविध समस्याओं का समाधान हो सकता है। कोई व्यक्ति हमारी बात नहीं मानता है, तब हमें गुस्सा आ जाता है। किसी व्यक्ति को हम उसके हित की बात समझाते हैं, फिर भी वह हमारी उपेक्षा कर देता है, तब हमारे दिल में उसके प्रति नाराजगी पैदा हो जाती है।

किसी पर हमने उपकार किया हो, फिर भी वह हमारा नुकसान करने के लिए तैयार होता हो तो उस समय हमें भयंकर गुस्सा आ जाता है।

परन्तु उपर्युक्त सभी परिस्थितियों में अपने मन को बराबर संतुलित बनाए रखने के लिए यह माध्यस्थ्य भावना हमें एक सुन्दर प्रेरणा देती है। यदि हम इस भावना को आत्मसात् कर लें तो हम अपनी आत्मा को मुक्ति के साथ जोड़ सकते हैं। □

ग्रथ प्रशस्तिः

एवं सद्भावनाभिः सुरभितहृदयाः संशयातीतगीतो-
न्नीतस्फीतात्मतत्त्वास्त्वरितमपसरन्मोहनिद्राममत्वाः ।
गत्वा सत्त्वाममत्वातिशयमनुपमां चक्रिशक्राधिकानां,
सौख्यानां मंक्षु लक्ष्मीं परिचितविनयाः स्फारकीर्तिं श्रयन्ते
॥ २३० ॥
(स्रग्धरा)

ग्रर्थ—इस प्रकार सद्भावनाग्रों से सुवासित हृदय वाले प्राणी संशयरहित हृदय से प्रशस्त ग्रात्मतत्त्व की उन्नति कर शीघ्र ही मोहनिद्रा ग्रौर ममत्व को दूर कर चक्रवर्ती ग्रौर इन्द्र से भी ग्रधिक ग्रनुपम सुख-समृद्धि को सहज प्राप्त करते हैं ग्रौर ग्रति नम्रता को धारण करते हुए भी वे विस्तृत कीर्ति प्राप्त करते हैं ॥ २३० ॥

दुर्ध्यानप्रेतपीडा प्रभवति न मनाक् काचिदद्वन्द्वसौख्य-
स्फातिः प्रीणाति चित्तं प्रसरति परितः सौख्यसौहित्यसिन्धुः ।
क्षीयन्ते रागरोषप्रभृतिरिपुभटाः सिद्धिसाम्राज्यलक्ष्मीः,
स्याद्वश्या यन्महिम्ना विनयशुचिधियो भावनास्ताः
श्रयध्वम् ॥ २३१ ॥
(स्रग्धरा)

अर्थ—जिसके प्रभाव से दुर्ध्यान रूप प्रेत की पीड़ा उत्पन्न नहीं होती है, अपूर्व सुख की प्राप्ति से चित्त प्रसन्न बनता है, चारों ओर सुख की पुष्टि रूप सागर फैल जाता है, राग-द्वेष रूप शत्रु-वर्ग नष्ट हो जाते हैं और मुक्ति रूप साम्राज्य की लक्ष्मी वशीभूत बनती है, इस प्रकार की विनय से पवित्र बनी बुद्धि को धारण कर उपर्युक्त भावनाओं को भजो ! उनका सेवन करो ।। २३१ ।।

श्रीहीरविजय - सूरीश्वर - शिष्यौ ,
सोदरावभूतां द्वौ ।
श्रीसोमविजयवाचक-
वाचकवरकीर्तिविजयाख्यौ ।। २३२ ।।
(पथ्या)

अर्थ—श्री सोमविजय वाचक (उपाध्याय) और श्री कीर्ति-विजय वाचक (उपाध्याय) दोनों श्रीमद् हीरविजय सूरीश्वरजी म. के शिष्य होने से दोनों गुरुभ्राता हुए ।। २३२ ।।

तत्र च कीर्तिविजयवाचकशिष्योपाध्यायविनयविजयेन ।
शान्तसुधारसनामा संदृष्टो भावनाप्रबन्धोऽयम् ।। २३३ ।।
(गीति)

अर्थ—उनमें (उपाध्याय) श्रीमद् कीर्ति विजयजी म. के शिष्य उपाध्याय श्री विनय विजयजी म ने भावनाओं के सम्बन्ध से प्रकृष्ट बोधदायी शान्त सुधारस नाम का ग्रन्थ रचा है ।। २३३ ।।

शिखि-नयन-सिन्धु-शशिमित वर्षे ,
हर्षेण गन्धपुरनगरे ।
श्रीविजयप्रभसूरिप्रसादतो ,
यत्न एष सफलोऽभूत् ।। २३४ ।।
(गीति)

अर्थ—यह प्रयत्न श्रीमद् विजयप्रभ सूरीश्वरजी म. की कृपा से गन्धपुर (गांधार) नगर में संवत् १७२३ वर्ष में सफल हुआ ।। २३४ ।।

यथा विधुः षोडशभिः कलाभिः ,
संपूर्णतामेत्य जगत् पुनीते ।
ग्रन्थस्तथा षोडशभिः प्रकाशै -
रयं समग्रः शिवमातनोतु ।। २३५ ।।
(उपजाति)

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा सोलह कलाओं से सम्पूर्णता प्राप्त कर जगत् को पावन करता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी सम्पूर्ण सोलह प्रकाशों के द्वारा शिवसुख का विस्तार करे ।। २३५ ।।

यावज्जगत्येष सहस्रभानुः ,
पीयूषभानुश्च सदोदयेते ।
तावत्सतामेतदपि प्रमोदं ,
ज्योतिः स्फुरद्वाङ्मयमातनोतु ।। २३६ ।।
(उपजाति)

अर्थ—जब तक जगत् में सूर्य और चन्द्र उदित रहें तब तक यह प्रकाशवन्त शास्त्र रूप ज्योति भी सत्पुरुषों को प्रमोद (आनन्द) देती रहे ।

इति श्रीमन्महोपाध्याय श्रीकीर्तिविजयगणिशिष्यो-पाध्यायश्रीविनयविजयगणि - विरचिते शान्त-सुधारसग्रन्थे षोडशः प्रकाशः समाप्तिमगमत् । □

प्रकाशन-परिचय

'नमस्कार महामंत्र' के सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक,
अध्यात्मयोगी निस्पृहशिरोमणि पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री के
तात्त्विक और सात्त्विक हिन्दी-साहित्य का—

* सरल परिचय *

१. **महामंत्र की अनुप्रेक्षा**—मूल गुजराती भाषा में आलेखित इस पुस्तक की गुजराती भाषा में तीन आवृत्तियाँ प्रकट हो चुकी हैं। हिन्दी-भाषा में भी दो आवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं।

'नमस्कार महामंत्र' के अगाध चिन्तन-सागर में अवगाहन करने के बाद पूज्यपादश्री को जो चिन्तन-मोती प्राप्त हुए····उन्हीं चिन्तन-मोतियों की माला का दूसरा नाम 'महामंत्र की अनुप्रेक्षा' है। 'नमस्कार-महामंत्र' शब्द से छोटा है, परन्तु वह अर्थ का महासागर है।

तत्त्व-जिज्ञासुओं के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय और मननीय है।

मूल्य : बीस रुपये

२. **परमात्म-दर्शन**—पूज्य की पूजा करने से अपनी आत्मा भी पूज्य/पवित्र बनती है। परमेष्ठी के प्रथम पद पर विराजमान तारक तीर्थंकर परमात्मा का स्वरूप क्या है? —उनका हम पर कितना असीम उपकार है? उनकी पूजा से क्या फायदे हैं? —इत्यादि अनेकविध विषयों पर मार्मिक विवेचन इस पुस्तक में किया गया है।

मूल्य : पाँच रुपये

३. **प्रतिमा पूजन**—क्या प्रतिमा पूजनीय है ?

प्रतिमा की पूजा करने से क्या हमें कुछ लाभ हो सकता है?

क्या वीतराग की प्रतिमा की पूजा अनिवार्य है ?

इत्यादि शताधिक प्रश्नों के जवाब के साथ-साथ प्रतिमा-पूजन की प्राचीनता सम्बन्धी विस्तृत जानकारी इस पुस्तक से मिलती है।

सत्य-जिज्ञासु आत्मा के लिए यह पुस्तक अवश्य पठनीय है।

मूल्य : आठ रुपये

४. **नमस्कार मीमांसा**—पूज्यपादश्री की यह भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। विशाल शासन-समुद्र के अवगाहन के बाद, नमस्कार महामंत्र की महत्ता को सिद्ध करने वाले अनेक छोटे-बड़े लेखों का संग्रह अर्थात् नमस्कार मीमांसा।

इस पुस्तक में १२३ छोटे-बड़े निबन्ध हैं। थोड़े से शब्दों में पूज्यपादश्री ने बहुत कुछ कह दिया है। सचमुच, ये निबन्ध गागर में सागर का काम करते हैं।

मुमुक्षु आत्मा के लिए इसका स्वाध्याय बहुत जरूरी है।

मूल्य : आठ रुपये

५. **चिन्तन के फूल**—धर्म का स्वरूप, सुख का स्वरूप, अनेकांतवाद, मैत्री भावना, आनन्द की शोध आदि-आदि अनेक चिन्तनात्मक लेखों का संग्रह इस पुस्तक में उपलब्ध है। जैनदर्शन के हार्द को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

मूल्य : पाँच रुपये

६. परमेष्ठि-नमस्कार— में नमस्कार महामंत्र की सर्वश्रेष्ठता, उपादेयता, नवकार में नवरस, नमस्कार महामंत्र का उपकार, नमस्कार महामंत्र की व्यापकता इत्यादि अनेक विषयों पर शास्त्रीय व आकर्षक शैली में वर्णन किया गया है। नमस्कार महामंत्र की श्रद्धा के दृढ़ीकरण के लिए यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी है।

मूल्य : नौ रुपये

७. चिन्तन की चांदनी—पूज्यपादश्री ने राजस्थान की मरुधरा में स्थिरता दरम्यान नमस्कार महामंत्र पर जो प्रवचन किये थे, उन्हीं प्रवचनों का संकलन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध है। पुस्तक अत्यन्त सरल रोचक शैली में लिखी गई है। पठनीय है।

मूल्य : छह रुपये

८. जैन-मार्ग परिचय—जिनेश्वर परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग 'जैन-मार्ग' कहलाता है।

'जैन-मार्ग' की साधना द्वारा किस प्रकार आत्मा की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है, इसका सरल व श्रेष्ठ उपाय प्रस्तुत पुस्तक से प्राप्त होता है।

पुस्तक फिलहाल अप्राप्त है। पुनःप्रकाशन की भावना है।

९. चिन्तन की चिनगारी—इस पुस्तक में मैत्री आदि भाव सम्बन्धी अनेक लेख हैं। आत्मा के अभ्युत्थान के लिए जीवन में मैत्री आदि भावों को किस प्रकार आत्मसात् किया जाय, उसका सहज व सरल मार्गदर्शन प्रस्तुत पुस्तक में है। इसके साथ जीवन-स्पर्शी अनेक विषयों पर भी इसमें सुन्दर चर्चा की गई है।

मूल्य : चार रुपये पचास पैसे

१०. **चिन्तन का अमृत**—सचमुच, इस पुस्तक का स्वाध्याय करते समय अमृत के आस्वादन की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। विषमय भौतिक जीवन को किस प्रकार अमृतमय बनाया जा सकता है, ऐसे अनेक निबन्ध इस पुस्तक में संगृहीत होने से यह पुस्तक मुमुक्षु व आराधक आत्मा के लिए अवश्य पठनीय/मननीय है।

मूल्य : सात रुपये

११. **आपके सवाल-हमारे जवाब**—इस पुस्तक में आत्मा, कर्म, पुण्य, पाप, परलोक, मोक्ष, महामंत्र तथा प्रतिक्रमण आदि विषयों से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों के तर्कबद्ध जबाब दिये गए हैं। पुस्तक को पढ़ने से दिमाग में रहे अनेक प्रश्नों के समाधान स्वतः हो जाते हैं।

मूल्य : सात रुपये

१२. **समत्वयोग की साधना**—लोकोत्तर जैनशासन में समता का अत्यधिक महत्त्व है। समता ही मोक्ष का अनन्य कारण है। इस पुस्तक में समता विषयक अनेक लेखों का सुन्दर संकलन है। समता-रसिक मुमुक्षु आत्माओं के लिए यह पुस्तक एक सुन्दर पाथेय का काम करेगी।

मूल्य : बारह रुपये

मुनिश्री रत्नसेन विजयजी महाराज द्वारा विरचित अन्य कृतियों का

संक्षिप्त परिचय

●

१. **वात्सल्य के महासागर**—इस कृति में अध्यात्मयोगी, नमस्कार महामन्त्र के अनन्य साधक स्वर्गस्थ पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यास-प्रवर **श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्यश्री** के विराट् जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक अवश्य पठनीय है।

●

२. **सामायिक सूत्र विवेचना**—इस पुस्तक में लेखक ने 'नमस्कार महामन्त्र' से लेकर 'सामाइयवयजुत्तो' तक के सूत्रों पर विस्तृत विवेचन किया है। भाषा-शैली आकर्षक है।

●

३. **चैत्यवन्दन सूत्र विवेचना**—देवाधिदेव वीतराग परमात्मा के भाव-पूजा सम्बन्धी सूत्रों पर इस पुस्तक में सुन्दर विवेचन किया गया है। परिशिष्ट के अन्तर्गत 'प्रभु-दर्शन-पूजन विधि' का भी उल्लेख होने से यह कृति अत्यन्त प्रिय बनी है।

●

४. **श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र विवेचना**—प्रतिक्रमण अर्थात् पाप से पीछे हटना। प्रतिक्रमण एक यौगिक-साधना है, जगत् के जीवों के साथ टूटे हुए सम्बन्ध को प्रतिक्रमण द्वारा पुनः जोड़ा जाता है। प्रतिक्रमण साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका के जीवन का एक आवश्यक अंग है। प्रस्तुत कृति में प्रतिक्रमण की विस्तृत जानकारी दी गई है, साथ में ही **श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र, वंदित्तु सूत्र** पर विस्तृत विवेचन है। श्रद्धालु श्रावक जन के लिए यह कृति अवश्य प्रेरणास्पद है।

●

५. **आनन्दघन चौबीसी विवेचना**—योगिराज आनन्दघनजी के नाम से भला कौन अपरिचित होगा ? अध्यात्म की मस्ती में लीन बने आनन्दघनजी म. द्वारा विरचित चौबीस स्तवनों पर प्रस्तुत कृति में सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो अवश्य मननीय है। भाषा-शैली रोचक व सुगम है।

●

६. **कर्मन् की गत न्यारी**—एक शीलवती सन्नारी के पवित्र जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रस्तुत कृति अवश्य पठनीय है। कर्म-संयोग से जीवन में आने वाली आपत्तियों को समतापूर्वक सहन करने वाली महासती मलयसुन्दरी का जीवन अनेकविध प्रेरणाओं से भरा-पूरा है।

●

७. **मानवता तब महक उठेगी**—जीवन में आत्मोत्थान की साधना में आगे बढ़ने के लिए सर्वप्रथम 'मानवता' की नींव को मजबूत करना अनिवार्य है। नींव ही यदि कमजोर हो तो इमारत का निर्माण कैसे हो सकता है ? प्रस्तुत कृति में जीवन में 'मानवता' के अभ्युत्थान के लिए उपयोगी गुणों का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसी वर्ष प्रकाशित प्रस्तुत कृति के संदर्भ में अनेक अभिप्राय प्राप्त हुए हैं।

●

८. **मानवता के दीप जलाएँ**—'मानवता तब महक उठेगी' पुस्तक की ही अगली कड़ी यह पुस्तक है। इस पुस्तक में मानवता के विकास में उपयोगी १४ गुणों का मार्मिक वर्णन है। पुस्तक में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में गुणवर्णन और द्वितीय खण्ड में प्रेरक प्रसंग हैं। युवा जगत् के लिए यह पुस्तक प्रेरणा का महान् स्रोत है।

●

९. **आलोचना सूत्र विवेचना**—विद्वद्वर्य लेखक मुनिश्री ने नवकार से लेकर 'वेयावच्चगराणं' तक के सूत्रों का विस्तृत विवेचन 'सामायिक सूत्र विवेचना' और 'चैत्यवंदन सूत्र विवेचना' पुस्तक में किया था। उसके बाद के सूत्रों का (वंदित्तु के पूर्व तक) विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है। अठारह पापस्थानक का लाक्षणिक शैली में विस्तृत विवेचन अवश्य ही पढ़ने योग्य है।

●

१०. **जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है**—लेखक मुनिश्री ने प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तीन चरित्र-नायकों के अद्‌भुत और रोमांचक जीवन-दर्शन को बहुत ही आकर्षक शैली में प्रस्तुत किया है। 'माँ हो तो ऐसी हो' चरित्र कहानी सच्चे मातृत्व की पहचान कराने वाली है। शासन की रक्षा के लिए अपना जीवंत बलिदान देने की तैयारी बताने वाले 'प्रभावक सूरिवर' का चरित्र हम में नया उत्साह और जोश भरे बिना नहीं रहता····और अन्त में 'ब्रह्मचर्य-प्रभाव' कहानी जिसमें महामंत्री पेथड़शाह की जिंदगानी को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है, हमें ब्रह्मचर्य की महिमा समझाती है। पुस्तक अवश्य पठनीय है।

●

११. **चेतन! मोह नींद अब त्यागो**—महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी विरचित 'चेतन ज्ञान अजुवालीए' सज्झाय का विस्तृत विवेचन अर्थात् 'चेतन! मोह नींद अब त्यागो'। अनादि की मोहनिद्रा में से आत्मा को जागृत करने के लिए महोपाध्यायश्री की कृति के अनुसार लेखक मुनिश्री ने बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है, जो अवश्य पठनीय है। सम्भव है कि इस पुस्तक के वाचन से आपकी मोह निद्रा दूर हो जाय।

●

१२. **मृत्यु की मंगल यात्रा**—पुस्तक में लेखक मुनिश्री ने पत्रों के माध्यम से मृत्यु के अगम रहस्यों को समझाने का सुन्दर व सफल प्रयास किया है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता पत्र-शैली है। काल्पनिक पत्रों के माध्यम से लेखक ने मृत्यु को मंगलमय बनाने के लिए बहुत ही अच्छा मार्गदर्शन दिया है।

●

१३. युवानो ! जागो--पुस्तक में लेखक मुनिश्री ने आज के गुमराह युवा वर्ग को जागृत कर सन्मार्ग पर चलने की सुन्दर प्रेरणा दी है। आज की युवा पीढ़ी पान-पराग, धूम्रपान, ह्विस्की, ब्रांडी, एल. एस. डी., ब्राउन सुगर, अंडे आदि के व्यसन की गुलाम बनती जा रही है। व्यसन-मुक्त युवान ही अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर आगे बढ़ा सकता है। प्रस्तुत पुस्तक का घर-घर में प्रचार व प्रसार होना अत्यन्त जरूरी है।

●

१४. शान्त सुधारस (हिन्दी विवेचन) I —महोपाध्याय श्रीमद् विनय-विजयजी म. के द्वारा संस्कृत भाषा में विरचित 'शान्त सुधारस' के समस्त पदों का मुनिश्री ने बहुत ही सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। जीवन में वैराग्य की अभिवृद्धि के लिए इस प्रकार के ग्रन्थों का स्वाध्याय अत्यन्त ही अनिवार्य है। इस अनमोल ग्रन्थ का हिन्दी विवेचन हिन्दीभाषी वर्ग के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा।

●

१५. शान्त सुधारस-भाग II--महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजयजी विरचित अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं में से प्रथम ९ भावनाओं पर विस्तृत हिन्दी विवेचन प्रथम भाग में है और शेष ७ भावनाओं पर हृदयंगम एवं रोचक शैली में हिन्दी विवेचन इस द्वितीय भाग में प्रस्तुत है। जीवन में आत्मिक शान्ति चित्त-प्रसन्नता और वैराग्य वृद्धि के लिए इस विवेचन का सांगोपांग अध्ययन अत्यावश्यक है।

●

१६. रिमझिम - रिमझिम अमृत बरसे—अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकर विजयजी गणिवर्य श्री के नाम-काम से भला कौन अपरिचित है ? उनके विराट् व्यक्तित्व और अद्भुत कृतित्व को प्रगट करने वाली इस श्रद्धांजलि-संस्मरणिका का विद्वद्वर्य मुनि श्री रत्नसेन विजयजी ने अत्यंत ही कुशलतापूर्वक संपादन किया है। इस संस्मरणिका के स्वाध्याय से जीवन में अध्यात्म की नई दिशा प्राप्त हुए बिना नहीं रहेगी। अध्यात्मरसिक पाठकों के लिए इसका अध्ययन अत्यावश्यक है। □

ग्रंथ एवं ग्रंथकार का परिचय

महोपाध्याय श्रीमद् विनय विजय जी द्वारा विरचित "शान्त सुधारस" ग्रंथ एक सुमधुर काव्यकृति है। इस काव्य ग्रंथ में अनित्य आदि बारह और मैत्री आदि चार भावनाओं का गेयात्मक रूप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है।

ग्रंथकार महर्षि प्रकांड विद्वान् और प्रतिभासम्पन्न थे। इस ग्रंथ रचना के साथ उन्होंने कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका, लोकप्रकाश, हैम लघु प्रक्रिया, नयकर्णिका, जिननामसहस्र स्तोत्र जैसी संस्कृत कृतियों के साथ पुण्यप्रकाश स्तवन, श्रीपालराजा का रास इत्यादि अनेक गुर्जर साहित्य की भी रचना की है। प्रस्तुत काव्यकृति में भाषा के लालित्य के साथ-साथ भावों की ऊर्मियाँ उछलती हुई नजर आती हैं।

आइये ! रसाधिराज शांतरस के इस महासागर में डुबकी लगाकर अपनी आत्मा के कर्ममल का प्रक्षालन करें और आत्मा की निर्मलता को प्राप्त करें।

— मुनि रत्नसेन विजय

जीवन में नैतिक जागरण और सन्मार्ग प्राप्ति के लिए **परम पूज्य मुनिप्रवर श्री रत्नसेन विजय जी म.सा.** का सरल, सरस व सुबोध हिन्दी साहित्य अवश्य पढ़ें :

१. वात्सल्य के महासागर
२. सामायिक सूत्र विवेचना
३. चैत्यवंदन सूत्र विवेचना
४. आलोचना सूत्र विवेचना
५. वंदित्तु सूत्र विवेचना
६. आनंदघन चौबीसी–विवेचन
७. कर्मन् की गत न्यारी
८. मानवता तब महक उठेगी
९. मानवता के दीप जलाएँ
१०. चेतन ! मोह नींद अब त्यागो
११. जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
१२. मृत्यु की मंगल यात्रा
१३. युवानो ! जागो
१४. शान्त-सुधारस हिन्दी विवेचन (भाग-१)
१५. शान्त-सुधारस हिन्दी विवेचन (भाग-२)
१६. The Light of Humanity (In Press)
१७. रिमझिम-रिमझिम अमृत बरसे (प्रेस में)

सम्पर्क सूत्र

1. Shantilal D. Jain
c/o Indian Drawing Equipment Industries,
Shed No.2, Sidco Industrial Estate,
Ambattur -Madras- 600 098

2. कांतिलाल मुणत,
106, रामगढ़, आयुर्वेदिक हॉस्पीटल के पास,
रतलाम (M.P.) 457 001